पञ्चदशोऽध्यायः।

A Message from Swamiji

ॐ

To Greet Brothers
is to stretch our
mind, is love, to
touch another's hear
Let-us expand to em
each other, all thing
beautiful, useful an
lovable.

Love Love

T.

ae

d

श्रीमद्भगवद्गीता

(गीतामृतमञ्जूषा)

पञ्चदशोऽध्यायः

परमहंसपरिव्राजकाचार्य दण्डिस्वामी श्रीमद्भागवतानन्द
सरस्वती महाराज का प्रसाद

गीतामण्डली
श्री शंकराचार्य आश्रम,
१५, अलोपीबाग (ब्रह्मनिवास),
इलाहाबाद-६

प्रकाशक :
प्रोफेसर निशीथ कुमार तरफदार, बी० ई०
बिहार कॉलेज ऑफ इंजिनियरिंग
पटना—५ (बिहार)
मुद्रक :
नरेन्द्रकुमार प्राणलाल आचार्य
आचार्य मुद्रणालय
कर्णघण्टा, वाराणसी–१

गीतामण्डली कर्तृक सर्वस्वत्व सुरक्षित

प्राप्तिस्थान

१—अध्यक्ष, गीतामण्डली,
श्रीशंकराचार्य आश्रम १५—अलोपी
बाग (ब्रह्मनिवास) इलाहाबाद–६

२—श्री शिवशंकर स्वामी
२३ पुराना किला, लखनऊ

३—श्रीमती छवि बोस
३ ए/२८ आजाद नगर, कानपुर

४—श्रीमती रमा मित्रा
११२/२४८ स्वरूपनगर, कानपुर

५—श्रीमती उमादानी
द्वारा श्री डी. आर. दानी, लक्ष्मी-
निवास, सिविल लाइन्स, मुरादाबाद

६—प्रो० निशीथ कुमार तरफदार बी० ई०
बिहार इंजिनियरिंग कालेज,
पटना–५ (बिहार)

७—श्री हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव, एडवोकेट,
प्रभु टाऊन, रायबरेली

८—श्रीमती माधवी कर,
द्वारा डॉ. एच. एम. कर
सिविल सर्जन, मिर्जापुर

९–श्री एस. सी. मित्र, १४ बी०,
तिलक ब्रिज, आफिसर्स रेलवे
कॉलोनी नगर, न्यू दिल्ली—१

१०–श्री रामकुमार रस्तौगी
धामपुर (बिजनौर)

विज्ञप्ति

भगवान् की असीम कृपा से परमहंस परिव्राजकाचार्य दण्डिस्वामी श्रीभागवतानन्द सरस्वतीजी महाराज द्वारा प्रणीत "गीतामृतमञ्जूषा" का पञ्चदश अध्याय (पुरुषोत्तमयोग) प्रकाशित हो रहा है। गीता सर्व वेदार्थ का सार है एवं यह पञ्चदश अध्याय सम्पूर्ण गीता का सार है। इसलिए इस अध्याय का माहात्म्य भी अपार है। इसी कारण से स्वामीजी ने इस अध्याय की व्याख्या अति विस्तृतभाव से की है तथा आशा है कि इस अपूर्व व्याख्या से सभी जिज्ञासु पाठक इस अध्याय का रहस्य समझकर आनन्द प्राप्त करेंगे।

इस अध्याय की पाण्डुलिपि (Manuscript) प्रस्तुत करने के लिये निम्नलिखित सज्जनों ने विशेष परिश्रम किया है—

(१) श्री पृथ्वीसिंह, बी० एस० सी०, बी० ई० (इलेक्ट्रिकल इंजिनियर)
(२) श्री देवव्रत मिश्र
(३) श्री सतीशकुमार जोशी तथा
(४) श्री विनोदकुमार गुप्त

इस सम्बन्ध में उनकी निःस्वार्थ सेवा के लिए गीतामण्डली हार्दिक कृतज्ञता प्रकाश कर रही है।

अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य (ज्योतिर्मठ-बदरिकाश्रम) श्रीस्वामी शान्तानन्द सरस्वती जी महाराज ने 'गीतामृतमञ्जूषा' ग्रन्थ के सम्बन्ध में एक सम्मति तथा आशीर्वाद पत्र भेजा है। वह इस ग्रन्थ के अन्त में मुद्रित किया गया है। उसमें उन्होंने इस ग्रन्थ की विशेषता संक्षेप से अति प्रांजल एवं सुललित भाषा में वर्णित की है। इसलिये गीतामण्डली श्रीजगद्गुरु शंकराचार्य जी के प्रति आन्तरिक कृतज्ञता प्रकाश करते हुए श्रद्धा निवेदन कर रही है।

जिन दानवीर महापुरुषों की सहायता से पिछले कई अध्यायों का प्रकाशन सम्भव हुआ है, यह अध्याय भी उनकी निःस्वार्थ सहायता से ही प्रकाशित हो रहा है, इसलिए गीतामण्डली उनके प्रति बारंबार कृतज्ञता प्रकाश कर रही है।

इति

श्रीनिशीथ कुमार तरफदार बी. ई.
सचिव, गीतामण्डली
इलाहाबाद।

विजयादशमी
१९-१०-:२

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

श्रीमद्भगवद्गीता

पञ्चदशोऽध्यायः

"पुरुषोत्तमयोगः"

पिछले अध्याय में भगवान् ने संसार-बन्धन के हेतुभूत तीनों गुणों की व्याख्या करके यह कहा है कि मेरे भजन द्वारा उन तीनों गुणों का अतिक्रमण करके ब्रह्मभावरूप मोक्ष मिल सकता है (गीता १३।२६)। अब अर्जुन के मन में ऐसी शंका होने पर कि तुम तो मनुष्य हो तुम्हारे भजन से ब्रह्मभाव की प्राप्ति कैसे हो सकती है, इस शंका का निवारण करने के उद्देश्य से अपनी ब्रह्मरूपता प्रतिपादित करने के लिये पूर्व अध्याय के अन्तिम (१४।२७) श्लोक में भगवान् ने यह कहा है कि मैं तो शाश्वत धर्मस्वरूप तथा अव्यय एवं अमृतस्वरूप ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ। अब इस सूत्र की व्याख्यारूप से यह पंचदश–अध्याय आरम्भ किया जाता है, जिससे सभी मुमुक्षु भगवान् श्रीकृष्ण के तत्त्व को जानकर उनके प्रति प्रेमभक्ति के प्रभाव से [तथा जगत के मिथ्यात्व का अनुभव कर पूर्णरूपेण विषयों से वैराग्यवान् होकर] उन तीनों गुणों से अतीत होकर (गुणातीत होकर) ब्रह्मभाव की (ब्रह्मस्वरूपता की) प्राप्ति कर सकें (मधुसूदन)।

[पूर्व अध्याय के अन्तिम श्लोक में भगवान् ने अपने स्वरूप के सम्बन्ध में जो परिचय दिया है, उससे यह सूचित किया गया है कि कर्म करने वालों का कर्मफल एवं ज्ञानियों का ज्ञानफल भगवान् के अधीन है। अतः जो भक्तियोग से भगवान् को

भजते हैं, वे भी उनकी कृपा से गुणातीत होकर क्रम से ज्ञानप्राप्ति कर मोक्षलाभ करते हैं, तो फिर जो श्रवण, मननादि द्वारा समस्त संसार से विरक्त होकर यथार्थ आत्मतत्त्व को सम्यकूरूप से जान लिये हैं वे गुणों का अतिक्रमण कर मोक्षलाभ करेंगे, इसमें तो कहना ही क्या है, क्योंकि आत्मतत्त्व को यथार्थ रूप से नहीं जानना ही (अर्थात् अज्ञान ही) संसार का एकमात्र हेतु है। इसलिये अर्जुन के न पूछने पर भी अपने तत्त्व को कहने की इच्छा से भगवान् 'ऊर्ध्वमूलम्' इत्यादि वचनों से पहले वैराग्य उत्पन्न करने के लिये संसार के स्वरूप का वृक्ष के रूप से वर्णन करते हैं क्योंकि मिथ्या संसार से जो पुरुष विरक्त होता है उसको ही भगवान् के तत्त्व को जानने का अधिकार है—अन्य को नहीं। अतः—]

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

अन्वय—श्रीभगवानुवाच—ऊर्ध्वमूलम् अधःशाखम् अश्वत्थं अव्ययम् प्राहुः, यस्य पर्णानि छन्दांसि, तम् (अश्वत्थं) यः वेद सः वेदवित्।

अनुवाद—श्रीभगवान् ने कहा कि जिसका ऊपर की ओर मूल है और नीचे की ओर शाखाएँ हैं एवं वेदों के (ऋग, यजु तथा साम इन तीनों वेदों के) कर्मकाण्ड सम्बन्धी मन्त्रसमूह जिसके पत्ते हैं ऐसे इस संसाररूप अश्वत्थ (पीपल के) वृक्ष को श्रुति और स्मृति अव्यय (अविनाशी) बतलाती हैं। जो इसे जानता है अर्थात् जो इसका स्वरूप यथार्थ रूप से जानता है, वही वेदवित् है (वेद के तात्पर्य को जानने वाला है)।

भाष्यदीपिका—श्रीभगवानुवाच—श्रीभगवान् ने कहा—**ऊर्ध्वमूलम्**—ऊर्ध्व (उत्कृष्ट) मूल (कारण) जिसका है वह ऊर्ध्वमूल है। अव्यक्त मायाशक्ति विशिष्ट ब्रह्म को ही 'ऊर्ध्व' कहा जाता है क्योंकि काल की अपेक्षा भी वह सूक्ष्म है एवं सबका कारण तथा नित्य एवं महान् होने के कारण उसको ऊर्ध्व (सबसे ऊँचा) अर्थात् सर्वोत्कृष्ट कहा जाता है। वही ब्रह्म इस संसार का मूल (आदिकारण) है। इसलिये

यह संसारवृक्ष ऊपर की ओर मूल वाला है। कठ श्रुति में भी "ऊर्ध्वमूलोऽवाक्‌शाखः" (ऊपर मूल और नीचे शाखा वाला) कहा गया है (क० उ० २।६।१)। पुराण में भी कहा है कि इस संसारवृक्ष का मूल है अव्यक्त (अव्याकृत अर्थात् मायोपाधिक) ब्रह्म अर्थात् अव्यक्तरूप ब्रह्म से ही संसार उत्पन्न होने के कारण उनके अनुग्रह से ही उत्थित (वर्धित) हुआ है। इस संसार वृक्ष का स्कन्ध (प्रधान शाखा) है बुद्धि। जिस प्रकार वृक्ष के स्कन्ध से (प्रधान शाखा से) नाना शाखाएँ उत्पन्न होकर चारों ओर विस्तृत होती हैं, उसी प्रकार बुद्धि से ही नाना प्रकार के भाव उत्पन्न होने पर संसार का नाना प्रकार से परिणाम तथा विस्तार होता है। अतः बुद्धि ही संसारवृक्ष का तना है; इन्द्रियों के अन्तर (छिद्र) ही इस संसारवृक्ष के कोटर (बीच-बीच में छिद्र) हैं; पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश-ये पंचमहाभूत इसकी विविध शाखाएँ हैं अथवा विशेष विशेष शाखाएँ हैं; शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध—ये पंचविषय इसके पत्ते हैं, धर्म तथा अधर्म इसके सुन्दर पुष्प हैं एवं सुख दुःखरूप फल देने वाले हैं; यह ब्रह्मवृक्ष (ब्रह्म से उत्पन्न हुआ वृक्ष) अथवा ब्रह्म द्वारा अधिष्ठित वृक्ष सर्वभूतों का आजीव्य (जीविकानिर्वाह का आश्रय) है तथा आत्मज्ञान के बिना छेदन न किया जा सकने के कारण यह वृक्ष सनातन (अज्ञानी की दृष्टि से नित्य) है। यह ब्रह्मवन है अर्थात् जीवरूपी ब्रह्म का वन (भोगत्वबुद्धि से सेवनीय या पूज्य) है। किन्तु ब्रह्म सदा ही साक्षीवत् अवस्थित है अर्थात् वह इसके (संसारवृक्ष के) किये हुए व्यापारों से लिप्त नहीं होता। इस प्रकार संसारवृक्ष का ज्ञानरूपी श्रेष्ठ खड्ग द्वारा छेदन भेदन करके अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसे अत्यन्त सुदृढ़ ज्ञानखड्ग से समूल काटकर आत्मा में रतिलाभ करके फिर उस आत्मस्वरूप मोक्षपद से संसार में नहीं लौटता। **अधःशाखम्**—यह ऊर्ध्वमूल मायारचित संसारवृक्ष नीचे शाखाओं वाला है। महत्तत्त्व, अहंकार, तन्मात्रा आदि शाखाओं के समान इसके अधोभाग में (नीचे) नानादिशाओं में कार्यरूप से विस्तृत हैं एवं वे (महत्तत्त्वादि) अधःगति का (नाना प्रकार से संसार बन्धन का) कारण होते हैं। इसलिये संसारवृक्ष को 'अधःशाखम्' कहा गया है। ['अधः' शब्द का अर्थ अर्वाचीन है अर्थात् जो पीछे कार्यरूप से उत्पन्न हुए हैं उन्हें अधः कहा जाता है। अर्वाचीन कार्योपाधि हिरण्यगर्भ प्रभृति जीवसमूह कारण ब्रह्म के कार्यरूप से वृक्ष की

शाखा के समान नाना प्रकार से विस्तृत हुए हैं। इसलिये संसारवृक्ष को अधःशाखम् कहा गया है (मधुसूदन)] अब संसारवृक्ष कितना अस्थिर है, यह कहा जा रहा है– **अश्वत्थं**—'श्व' शब्द का अर्थ है आगामी कल, 'न श्वः अपि स्थाता इति अश्वत्थः' अर्थात् कलतक भी संसार की कोई वस्तु रहने वाली नहीं है, इसलिये संसार को अश्वत्थ कहा जाता है। इस प्रकार अश्वत्थरू **अव्ययम्**—मायामय संसारवृक्ष (क्षणस्थायी या क्षण-क्षण में विनाशशील होने पर भी) यह अव्यय, अविनाशी माना जाता है क्योंकि यह आदि-अन्त से रहित शरीरादि की परम्परा के आश्रयरूप से सुप्रसिद्ध है अर्थात् यह संसारवृक्ष अनादिकाल से प्रवृत्त होने के कारण निरन्तर ध्वंसशील होने पर भी नदी के जल के समान प्रवाहरूप से अव्यय (व्ययरहित) अर्थात् अज्ञानी के लिये नित्य है। **प्राहुः**—तत्त्वज्ञ पुरुष अथवा श्रुति-स्मृति आदि शास्त्र ऐसा ही कहते हैं। [इस संसार वृक्ष का ही अन्य विशेषण कहा जा रहा है-**छन्दांसि**—ऋक्, यजुः और सामरूप वेद **यस्य पर्णानि**—वृक्ष के पत्ते के समान इस संसार वृक्ष की रक्षा करने वाले होने से पत्ते हैं। अभिप्राय यह है कि जैसे पत्ते वृक्ष की रक्षा करने वाले होते हैं ऐसे ही वेद धर्म-अधर्म रूप कर्म और उनके फल को प्रकाशित करने वाले होने से संसाररूपी वृक्ष की रक्षा करने वाले हैं। **तं यः वेद**—ऐसा जो संसारवृक्ष विस्तार पूर्वक मूलसहित वर्णित हुआ है, उस मायामय अश्वत्थरूप संसारवृक्ष को जो उसके मूल के सहित (अर्थात् उसके कारणरूप ब्रह्म के सहित) जानता है **सः वेदवित्**—वह यथार्थरूप से वेद के अर्थ को जानने वाला है।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—

वैराग्येण विना ज्ञानं न च भक्तिरतः स्फुटम्।
वैराग्योपस्कृतं ज्ञानमीशः पञ्चदशेऽदिशत्॥

(यह स्पष्ट है कि विना वैराग्य के न तो ज्ञान होता है और न भक्ति होती है; इसलिये वैराग्य के सहित ज्ञान का उपदेश भगवान् ने पन्द्रहवें अध्याय में किया है।)

पूर्व चतुर्दश अध्याय के अन्त में 'मां च योऽव्यभिचारेण' इत्यादि द्वारा यह बात कही गई कि परमेश्वर को एकान्त (अनन्य) भाव से भक्तिपूर्वक भजनेवालों को उसकी कृपा से प्राप्त ज्ञान के द्वारा ब्रह्मभाव की प्राप्ति होती है-एकान्तिक भक्ति अथवा

ज्ञान वैराग्य से शून्य पुरुष को उसे प्राप्त करना सम्भव नहीं है। इसलिये वैराग्यपूर्वक ज्ञान का उपदेश देने की इच्छा करके पहले ही ढाई श्लोकों द्वारा संसार के स्वरूप का वृक्षरूप अलंकार के द्वारा वर्णन करते हुए **श्रीभगवानुवाच**—श्रीभगवान् बोले—**ऊर्ध्वमूलम्**—क्षर तथा अक्षर दोनों से ऊर्ध्व (उत्कृष्ट) जो पुरुषोत्तम है वह संसार-वृक्ष का मूल है। इसलिये वह ऊर्ध्वमूल कहलाता है **अधःशाखम्**—उन पुरुषोत्तम से ही अर्वाचीन (अर्थात् पीछे कार्यरूप से प्रकट हुए) कार्योपाधिक हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) आदि अर्थात् ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त सभी प्राणी वृक्ष की शाखा के समान उस संसारवृक्ष की शाखा के रूप से मूल से नीचे की ओर विस्तृत हैं। **अश्वत्थम्**—विनाश-शील होने के कारण श्वः अर्थात् दूसरे दिन प्रभातकालपर्यन्त भी संसार की कोई वस्तु स्थिररूप से रहने वाली नहीं है, अतः विश्वास के योग्य न होने के कारण उसे 'अश्वत्थ' कहते हैं। **अव्ययम् प्राहुः**—प्रवाहरूप से संसार सदा बना रहता है। अतः उसका कभी विच्छेद न होने के कारण उसे अव्यय भी कहते हैं। श्रुतियाँ भी ऐसा ही कहती हैं—'ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः' (कठ० २।३।१) ['ऊपर मूल और नीचे शाखावाला यह सनातन अश्वत्थ है'।] **यस्य छंदांसि पर्णानि**—छन्द अर्थात् वेद जिसके पत्ते हैं अर्थात् पत्ते जैसे वृक्ष को छाया देकर वृक्ष की वृद्धि सम्पादन करते हैं, उसी प्रकार वेद धर्म और अधर्म का प्रतिपादन करके छायास्थानीय कर्मफल द्वारा इस संसारवृक्ष को सब जीवों के आश्रय का योग्यत्व सिद्ध करता है, इसलिये वेद इसके पर्णस्थानीय (पत्ते के स्थान में) हैं। **यः तं वेद सः वेदवित्**—जो इस प्रकार उस अश्वत्थ नामक संसारवृक्ष को जानता है वही वेद के यथार्थ अर्थ (प्रयोजन) को जानने वाला है। संसारवृक्ष के मूल ईश्वर (श्रीनारायण) हैं। उनके ब्रह्मादि अंश शाखास्थानीय हैं। वह संसारवृक्ष विनाशशील है इसलिये इसे अश्वत्थ कहा जाता है किन्तु प्रवाहरूप से नित्य भी है इसलिये यह अव्यय है। वेदोक्त कर्म के द्वारा यह वृक्ष सेवन करने के योग्य है इसका भी वेद ने प्रतिपादन किया है इसलिये वृक्ष के पत्ते के समान वेद इस संसारवृक्ष की रक्षा तथा वृद्धि करनेवाले हैं। इतना ही वेदों का अर्थ है, अतः जो इसे जानता है वह वेदवित् (वेद के यथार्थ को जानने वाला) है, ऐसा कह कर स्तुति की जाती है।

(२) शंकरानन्द—पूर्व अध्याय में ज्ञान और उसके फल के प्रतिबन्धक होने के कारण जो विद्वान् पुरुषों के द्वारा त्याज्य हैं उन सत्त्वादि गुणों का 'सत्त्वंरजस्तमः' (गीता १४।५) इत्यादि से वर्णन कर तथा (क) उन गुणों का स्वरूप और (ख) कार्य का, तथा (ग) सत्त्वादि गुणों से युक्त पुरुषों के विभिन्न फलों का तथा (घ) गुणों का अतिक्रम करनेवाले पुरूष का लक्षण और (उनको प्राप्त होने वाले मोक्षरूप) फल का सम्यक्प्रकार (भलीभांति) से प्रतिपादन करके पूर्व अध्याय के अन्त में गुणों का अतिक्रमण करने वाले उपायों को बतलाने की इच्छा कर भगवान् ने 'मां च योऽव्यभिचारेण 'भक्तियोगेन सेवते' [अव्यभिचारी (अनन्य) भक्तियोग से जो मेरी सेवा करता है] ऐसा कहकर गुणों के अतिक्रमण करने में साधन ब्रह्म का अनुसंधान (निरन्तर चिंतन) है, ऐसा कहा है। वे गुण कितने है ?, ब्रह्म किसप्रकार का है ? एवं किस प्रकार से उसका अनुसंधान हो सकता है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर क्षर और अक्षर से विलक्षण पुरूषोत्तम नामक परब्रह्म, उसके अनुसंधान, उसके प्रति महान पुरुषों की प्रवृत्ति और उस प्रवृत्ति से क्या प्राप्त होता है, इसका प्रतिपादन करने के लिये पञ्चदश अध्याय का आरम्भ किया जाता है। उसमें पहले संसार में जुगुप्सा (घृणा), वैराग्य, संन्यास (सम्यक् प्रकार त्याग) आदि मुमुक्षु के जो अनिवार्य साधन है उनकी सिद्धि के लिये वृक्षरूप से संसार का वर्णन श्रीभगवान् कर रहे हैं—

ऊर्ध्वमूलम्—अव्यक्त और महत् (महत्तत्त्व) आदि से भी परम महत्, अतिसूक्ष्म, प्रकाशक, सबका अधिष्ठान, सबका व्यापक तथा सबका कारण होने से परब्रह्मको ऊर्ध्व कहा जाता है अर्थात् सबसे उत्तम होने के कारण 'ऊर्ध्व' शब्द से ब्रह्म का निर्देश किया गया है। ऊर्ध्व (उच्छ्रित अर्थात् उत्कृष्टतम) जो परब्रह्म है वही मायासबल (माया से युक्त) होकर जिसका मूल (बीज) है, वह ऊर्ध्वमूलसंसार वृक्ष रूप से श्रुति में प्रसिद्ध है क्योंकि श्रुति का वाक्य भी ऐसा ही है—'ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः' [ऊर्ध्व मूलवाला, अधःशाखावाला यह अश्वत्थ वृक्ष सनातन है] तथा 'ऊर्ध्वमूलमवाक्शाखं वृक्षं यो वेद संप्रति' [ऊर्ध्व मूल वाले अधःशाखा वाले वृक्ष को जो सम्प्रति जानता है]। जिस प्रकार वट का बीज अव्यक्त, अतिसूक्ष्म, अविज्ञेय तथा अपारशक्ति से सम्पन्न है उसीप्रकार जगत् का बीजस्वरूप अव्यक्त ब्रह्म भी अतिसूक्ष्म,

अविज्ञेय तथा अपारशक्ति से सम्पन्न है। इसीलिये यह संसारवृक्ष अत्यन्त विस्तृत तथा अतिविचित्र है।

अधःशाखम्—'अव्यक्त से महत् (महत्तत्त्व), महत् से अहंकार, अहंकार से शब्दादि पंच तन्मात्रायें एवं पंच तन्मात्राओं से आकाशादि पंच महाभूत उत्पन्न होते हैं'—इस शास्त्रवचन से महदादि सम्पूर्ण विकार प्रकृति से नीचे स्थित हैं। अतः उनको 'अधः' कहा जाता है। अधः शब्द के वाच्य उक्त महदादि वृक्ष की शाखा के समान इस संसारवृक्ष की शाखायें हैं, अतः वह 'अधःशाख' है। महत् इसका अंकुर, अहंकार स्कन्ध, पंच तन्मात्रायें शाखायें, पञ्चमहाभूत इसकी उपशाखायें हैं, यही कहने का अभिप्राय है।

अश्वत्थम्—उस अधःशाखा वाले अश्वत्थ को। 'मायाकार्यत्वेन श्वो न तिष्ठतीत्यश्वत्थः' माया का कार्य होने से कलतक जो नहीं ठहरता है वह अश्वत्थ है अर्थात् क्षणभंगुर, अनित्य है। **अव्ययं प्राहुः**—इस प्रकार के अश्वत्थ को (क्षण-भंगुर संसारवृक्ष को) अव्यय (व्यय या नाश से रहित अर्थात् नित्य) शास्त्र तथा विद्वान् पुरुष कहते हैं। वेद की प्ररोचक वाणी से मोहित होकर कामी मीमांसक लोग जगत् जैसा प्रतीत होता है ऐसा ही है अर्थात् जगत् सत्य है–ऐसा कहते हैं। **छन्दांसि**—संसाररूपी वृक्ष का अनित्यत्व, दुःखरूपत्व, व्यामोहकत्व, (मोह में फँसाने की शक्ति) अनर्थकार्यत्व आदि दोषों का जो छादन (आवृत) करता है अर्थात् 'स्वर्ग नित्य है', 'पृथ्वी ध्रुव (निश्चित) है', 'दक्षिणाग्नि के उपासक अमृतत्व को प्राप्त होते हैं', 'स्वर्ग-लोक में कुछ भी भय नहीं है', 'स्वर्ग में स्थित लोग अमृतत्व को भजते हैं', 'यह तुम्हारा पुण्य सुकृत ब्रह्मलोक है' इत्यादि प्ररोचक (स्तुतिपरक) वाक्यों से जो (यथार्थ वस्तु को छिपाकर) भ्रम में डालते हैं, वे छन्द हैं अर्थात् ऋक्, यजुः, साम आदि के कर्मकाण्ड ही संसारवृक्ष के छन्द हैं अर्थात् इस मायामय वृक्ष के पत्तों के समान पत्ते हैं अर्थात् जिसप्रकार पत्ते सब ओर से वृक्ष के दोष को आच्छादन कर (छिपाकर) निरन्तर उसीकी रक्षा करते हैं, उसीप्रकार वेद (पुराण तथा इतिहास के साथ) कर्म, उपासना योग, आगम, तन्त्र और क्रिया के बोधक होने के कारण सम्पूर्ण वेद, कर्म उसके साधन तथा उसके फल के प्रकाशन द्वारा संसार के अनित्यत्व, दुःखरूपत्व आदि

दोषों को आवृत्त करते हुए इस संसारवृक्ष को बढ़ाते हैं ['छद्' धातु का अर्थ है छादन (आवरण करना) अथवा वृद्धि करना (बढ़ाना) ।] **तं यः वेद सः वेदवित्**—इस प्रकार प्रतिपादित लक्षण जिसके हैं अर्थात् जिसके वेदरूप पत्ते हैं तथा धर्म और अधर्म से जिसकी उत्पत्ति होती है एवं जन्म, मरणादिरूप दुःखरूपी फल जो देता है, इसप्रकार संसारवृक्ष को मूलसहित (परमब्रह्म के सहित) जो जानता है वही यथार्थरूप से वेद के अर्थ को जानने वाला है। यदि शंका हो कि मिथ्या, जड़ तथा दुःखस्वरूप, अपने गुणों के द्वारा जो विशेषरूप से मोह में डालने वाला, जन्मादि अनर्थ दुःख के हेतुभूत संसारवृक्ष को जानने से विद्वान् वेदार्थविद किस प्रकार होगा ? इसके उत्तर में कहते हैं कि जिस बीज से जो वृक्ष उत्पन्न होता है वह तद्रस ही होता है, जिस प्रकार तिक्त रस वाले निम्ब (नीम) के बीज से उत्पन्न हुए नीम के वृक्ष का रस भी तिक्त ही होता है, अन्य रस से युक्त नहीं होता। यह न्याय सर्वत्र ही प्रसिद्ध है। इसलिये चिदेकरस ब्रह्म से उत्पन्न हुआ संसारवृक्ष चिद्रूप ही है। 'यह सब ब्रह्म है' इत्यादि श्रुतियों से तथा 'संसाररूपी वृक्ष का रस अपने बीज का रस ही है, वृक्ष होने से, नीमवृक्ष के समान' इत्यादि युक्तियों से तथा उनसे उत्पन्न हुए अपने अनुभव से संसाररूपी वृक्ष को उसके कारण चिदेकरस ब्रह्मस्वरूप ही जो शुद्ध अन्तःकरण वाला पंडित जानता है वह वेद के यथार्थ अर्थ का ज्ञाता ही है। श्रुति में कहा है 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (सम्पूर्ण वेद जिस पद को कहते हैं) इस न्याय से सम्पूर्ण वेद का अर्थ ब्रह्म ही है। अतः वेद के अर्थ को जानने वाला ब्रह्मविद ही होता है। तथा 'कस्मिन् भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' [भगवन्, किसके जानने से यह सब ज्ञात हो जाता है ?] इस न्याय से जो वेदार्थ को (अर्थात् वेद के अर्थ को यानी ब्रह्म को) जानता है वह सर्वज्ञ ही होता है। उस सर्वज्ञ का क्या कर्तव्य है ? यह आगे 'स सर्वविद्भजति माम्' [वह सर्ववित् मुझको भजता है] इत्यादि से कहेंगे। अतः कार्यवृक्ष के कारण ज्ञान से कारणमात्रत्व का (परब्रह्म का) विज्ञान (विशेष ज्ञान) होता है एवं उस ज्ञान के कारण विद्वान् वेदार्थविद् होता है, यह सिद्ध होता है।

नारायणी टीका—चतुर्दश अध्याय के २६वें श्लोक में भगवान् ने कहा कि जो मुझे अनन्य भक्ति के साथ भजता है वह मेरी कृपा से तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर

त्रिगुण का अतिक्रमण कर (गुणातीत होकर) ब्रह्मस्वरूता को प्राप्त होने में समर्थ होता है। जिस भगवान् की उपासना करने से संसार से मुक्ति होती है वह केवल एक स्थूलमूर्ति अथवा कल्पितमूर्ति नहीं है बल्कि वह (क) अव्यय, अमृतत्त्वस्वरूप (ख) नित्य धर्म स्वरूप तथा (ग) ऐकान्तिक सुखस्वरूप ब्रह्म की प्रतिष्ठा है, यह चतुर्दश अध्याय के अन्तिम (२७ वें) श्लोक में भगवान् ने स्पष्ट किया है। पंचदश अध्याय इस सूत्रस्थानीय श्लोक का ही विस्तार है।

संसार से जिसका पूर्ण वैराग्य नहीं हुआ है वह अव्यविचारिणी (अनन्य) भक्ति पूर्वक कभी उस प्रतिष्ठा या सबके मूलस्वरूप भगवान् का भजन करने में समर्थ नहीं होता। अतः उसके लिये तत्त्वज्ञान तथा ब्रह्मस्वरूपता की प्राप्ति की भी संभावना नहीं होती है। शुद्धचैतन्यस्वरूप भगवान् के अतिरिक्त जो कुछ है वही संसार है। संसार में नानात्व है। जब तक नाना का (पृथक्-पृथक् वस्तुओं का) दर्शन होता रहेगा तब तक एक अखण्ड, अद्वितीय परमात्मसत्ता का दर्शन (अनुभव) होना असंभव है। संसारनाम से जो कुछ प्रतीत होता है वह काल्पनिक है, मिथ्या है, क्षणस्थायी है एवं विनाशशील है। इस संसाररूप अश्वत्थ (कलतक भी नहीं रहने वाले) वृक्ष के स्वरूप का भगवानने इस अध्याय में पहले ही वर्णन किया है जिससे इस संसार से विरक्त होकर सभी कल्याणकामी पुरुष इसके मूल का अनुसंधान कर सकें तथा उस मूलरूप ब्रह्म में ही निरन्तर स्थिति लाभकर संसारवृक्ष का छेदन कर सकें।

संसारवृक्ष—(१) ऊर्ध्वमूल है। श्रुति तथा पुराण आदि सभी शास्त्र यही प्रतिपादित करते हैं कि ब्रह्म ही इस संसारवृक्ष का ऊर्ध्व (श्रेष्ठ या उत्कृष्टतम) मूल (कारण) है। जो कुछ जागतिक वस्तुएँ प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देती हैं अथवा अनुमान के विषय हैं वे सभी परिणामी तथा नाशवान् होने के कारण अनित्य हैं। अतः उनका जो कुछ कारण देखा जाता है वह भी अनित्य ही है क्योंकि यह संसार कल्पित अर्थात् मायिक या मिथ्या होने के कारण कार्य तथा कारण उभय ही मिथ्या हैं। ब्रह्म मिथ्या संसार के **मिथ्या कार्य तथा कारण**—से ऊर्ध्व (श्रेष्ठ) है क्योंकि वही एकमात्र नित्य सत्य वस्तु है। तथापि ब्रह्म को संसार का मूल (आदि कारण) कहा जाता है क्योंकि कोई भी कल्पित वस्तु एक सत्य अधिष्ठान के बिना प्रतीत नहीं हो सकती है। माया (कल्पना) से

रचित यह संसार भी ब्रह्मरूप अधिष्ठान सत्ता का अवलम्बन करके ही भासित होता है। अतः ब्रह्म के बिना इस प्रतीति का संभव न होने के कारण ब्रह्म ही इसका मूल है परन्तु वह मूल होते हुए भी सबसे ऊर्ध्व है अर्थात् वह सबसे विलक्षण तथा अन्तिम सत्ता है— यही सूचित करने के लिये 'ऊर्ध्वमूल' कहा गया है। अथवा 'ऊर्ध्व' शब्द का अर्थ है ऊपर। ज्ञान द्वारा समस्त संसार प्रपंच बाधित होने पर अर्थात् संसार के मिथ्यात्व का साक्षात् अनुभव होने पर संसाररूप भ्रम का अधिष्ठानरूप जो साक्षी, चेता (विज्ञाता), केवल, अखण्ड (अद्वितीय), आत्मस्वरूप ब्रह्म है, उसका कभी बाध (लोप) हो नहीं सकता क्योंकि उसका बाध होने से संसार के बाध को (मिथ्यात्व को) कौन जानेगा ? इसलिये श्रुति भी कहती है—'न वा अरे विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते, अविनाशित्वात्' अर्थात् उस जानने वाले के जानने का कभी लोप नहीं हो सकता क्योंकि वह अविनाशी (नित्य) है। अतः यह ब्रह्म (परमात्मा) अपने स्वरूप में सदा ही संसार से ऊर्ध्व (विलक्षण) रहता है, तथापि मायायुक्त होकर यह संसार का मूल (कारण) बन जाता है क्योंकि संसार उसकी माया का ही विस्तार है, इसलिये संसार ऊर्ध्वमूल है। संसार से मुक्त होने के लिये (संसाररूप वृक्ष का छेदन करने के लिये) उसके मूलस्वरूप सर्वात्मा ब्रह्म का अनुसंधान करके उसके साथ एक होकर संसार से ऊर्ध्व (अतीत) होना पड़ेगा, यही ऊर्ध्वमूल शब्द का तात्पर्य है [विभिन्न टीकाकारों ने 'ऊर्ध्वमूल' शब्द की विभिन्न प्रकार से व्याख्यायें का हैं—

(i) सूक्ष्मत्व, कारणत्व, नित्यत्व, महत्व के हेतु अव्यक्त मायाशक्ति युक्त ब्रह्म सबसे ऊर्ध्व है, तथा संसाररूप सब कार्यों के नियमितरूप से पूर्व (पहले) रहने से वह कारण भी है अर्थात् मायाशक्ति विशिष्ट ब्रह्म संसार-वृक्ष का मूल (कारण) है। श्रुति, पुराणादि भी यही सिद्ध करते हैं (शंकराचार्य)।

(ii) ब्रह्म परमानन्दस्वरूप है अतः संसारवृक्ष का वह ऊर्ध्व (उत्कृष्ट) मूल (कारण) है अथवा संसार के सब पदार्थों के बाध होने पर भी (मिथ्यात्व निश्चय होने पर भी) समस्त संसाररूप भ्रम का अधिष्ठानरूप ब्रह्म ऊर्ध्व (विलक्षण) ही रहता है क्योंकि वह अबाधित है एवं वह माया से संसार का मूल (कारण) होने के कारण संसार को 'ऊर्ध्वमूल' कहा जाता है (मधुसूदन)।

(iii) 'आनन्दाद् ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' (तै० उ०) इस श्रुति वाक्य के अनुसार आनन्द से ही सर्वभूतों की उत्पत्ति हुई है एवं श्रुतिप्रसिद्ध मनुष्यानन्द से गंधर्व इत्यादि का आनन्द उत्तरोत्तर सत्वगुण से वर्धित होकर जिसमें समाप्त होते हैं अर्थात् जो सब आनन्द की अवधि (सीमा अथवा पूर्णरूप) है, वह परमानन्द-रूप अद्वय ब्रह्म सबसे ऊर्ध्व (अतीत) है एवं वह संसाररूप वृक्ष का मूल भी है इसलिये संसारवृक्ष 'ऊर्ध्वमूल' है (नीलकण्ठ)।

(iv) क्षर एवं अक्षर से ऊर्ध्व (उत्कृष्ट) पुरुषोत्तम संसार का मूल (कारण) होने से संसार-वृक्ष 'ऊर्ध्वमूल' है (श्रीधर)।

(v) सर्वलोक के ऊर्ध्व में (ऊपर में) अधिष्ठित जो चतुर्मुख ब्रह्मा है वही संसार का आदि मूल (कारण) है इसलिये संसारवृक्ष 'ऊर्ध्वमूल' है (रामानुज)।

(vi) ऊर्ध्व में (सबके ऊपर में) स्थित सत्यलोक में प्रधान (अव्यक्त) रूप बीज से उत्थित प्रथम अंकुररूप महत्तत्व (महत्तत्वात्मक चतुर्मुख ब्रह्मा) संसार की अभिव्यक्ति का मूल (कारण) है। इसलिये संसारवृक्ष 'ऊर्ध्वमूल' है (बलदेव गोस्वामी)। इसप्रकार अन्यान्य टीकाकारों ने अन्यान्य प्रकार से व्याख्या की, परन्तु 'गीता ब्रह्मविद्या है' इस पर विशेष ध्यान रखकर यदि अर्थ किया जाय तो अद्वैतवादसम्मत व्याख्या ही समुचित प्रतीत होती है। शंका हो सकती है कि अखंण्ड, अद्वितीय, निर्गुण ब्रह्म किस प्रकार गुणयुक्त संसार का कारण हो सकता है ? इसके उत्तर में कहा जायगा कि यद्यपि निर्गुण ब्रह्म सर्व विशेषणों से रहित होने के कारण उसे सृष्टिकर्ता कहा नहीं जाता है परन्तु उसमें एक स्वाभाविक अनिर्वचनीया मायाशक्ति (कल्पनाशक्ति) है जो स्वतः ही स्पन्दित होकर निर्गुण ब्रह्म की सत्ता का अवलम्बन कर मायामय इस विश्वप्रपंच की प्रतीति कराती है इस मायाशक्ति से विशिष्ट ब्रह्म को ही मायावी या सगुण ब्रह्म या अर्धनारीश्वर कहा जाता है, और संसार की अभिव्यक्ति के कारण माया को अव्यक्त, प्रधान, प्रकृति आदि नामों से अभिहित किया जाता है। ब्रह्म तथा माया (पुरुष-प्रकृति) की साम्यावस्था ही अव्यक्तावस्था है—वही विश्व-प्रपंच का बीज है सृष्टि आदि अवस्था को लक्ष्य करके ही ब्रह्म को ईश्वर, परमेश्वर, पुरुषोत्तम, परमात्मा, सगुण ब्रह्म इत्यादि कहा जाता है। सगुण ब्रह्म तथा निर्गुण ब्रह्म में स्वरूपतः कोई भेद नहीं है

क्योंकि मायारूप उपाधियुक्त होकर भी वह अपने निर्गुण स्वरूप से कभी विच्युत नहीं होता इसलिये श्रुति ने सर्वत्र ही सगुण तथा निर्गुण ब्रह्म का एक साथ वर्णन किया है। अतः इस मायोपाधिविशिष्ट सगुण ब्रह्म की (पुरुषोत्तम की) सृष्टि का संकल्प ही सृष्टि का बीज है इस संकल्प बीज से जो प्रथम अंकुर उत्पन्न होता है उसे महत्तत्व कहते हैं इसलिये भगवान् ने कहा है—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भंदधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ (गीत १४।३)

तात्पर्य यह है कि सगुण ब्रह्म की माया शक्ति का पहला विकार जो महत्तत्व है उसमें संकल्परूप गर्भ का आधान (निक्षेप) करने पर जगत की सृष्टि होती है। अतः सगुण ब्रह्म की संकल्प (मायाशक्ति) ही सृष्टि आदि का बीज है एवं महत्तत्व उस सृष्टि के बीज का अंकुर है। इस महत्तत्व को ही शास्त्र में सृष्टिकर्ता ब्रह्मा कहा गया है तथा अव्यक्त मायाशक्ति विशिष्ट ब्रह्म की ही संसार की रक्षा करने की शक्ति को विष्णु एवं प्रलय करने की शक्ति को महेश्वर कहते हैं। वस्तुतः एक ही तीन हो जाता है एवं तीनों का स्वरूप एक ही है। अतः यह सिद्ध होता है कि मायाशक्ति विशिष्ट सगुण ब्रह्म ही संसार वृक्ष का मूल है एवं सभी पदार्थों से वह श्रेष्ठ (उत्तम) होने के कारण, वह ऊर्ध्व है अर्थात् वह पुरुषोत्तम है अतः समस्त सृष्टि का कारण होने से संसार वृक्ष को ऊर्ध्वमूल कहा है।

(२) अधःशाखम्—वह मायामय ऊर्ध्वमूल संसार वृक्ष अधःशाख है अर्थात् मायाविशिष्ट ब्रह्म या अव्यक्त है। उससे महत्तत्व (समष्टि बुद्धि), महत्तत्व से व्यष्टि बुद्धि, बुद्धि से अहंकार, अहंकार के तामसिक अंश से आकाशादि पंच तन्मात्रायें एवं तन्मात्रा से पंच महाभूत तथा पंचमहाभूत से अन्न और अन्न से समस्त प्रजा की उत्पत्ति हुई। राजसिक एवं सात्त्विक अंश से इन्द्रियाँ, देवता, मन इत्यादि की सृष्टि हुई। सारांश यह है कि वृक्ष की शाखा जिस प्रकार चारों ओर विस्तृत हो जाती है, उसी प्रकार चतुर्दश लोक, हिरण्यगर्भ, देव, गन्धर्व, किन्नर, असुर, राक्षस, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि समस्त स्थावरजङ्गमात्मक भूतसमूह इस संसारवृक्ष की शाखा के रूप से विस्तृत हुए हैं परन्तु वृक्ष की शाखाएँ जिसप्रकार ऊर्ध्व से ऊर्ध्व प्रसारित

होती हैं उसी प्रकार न होकर उसके विपरीत रूप से अधः से अधः संसारवृक्ष की शाखाएँ प्रसारित हुई हैं क्योंकि इस वृक्ष के मूल परमब्रह्म की शक्ति का स्फुरण सृष्टि के क्रम के साथ-साथ उत्तरोत्तर क्षीणता प्राप्त होता है इसलिये संसारवृक्ष को 'अधःशाख' कहा गया है अथवा शाखाएं जिसप्रकार वृक्ष को घेर कर रहती हैं उसीप्रकार महत्तत्त्वादि-रूप सृष्टि के कार्य का विकास नानाप्रकार से विस्तृत होकर जीव की अधोगति का (विविधप्रकार से संसार बन्धन का) कारण होता है। इसलिये भी संसार 'अधः-शाख' है।

अब संसारवृक्ष किस प्रकार अस्थिर (सदा परिणामशील एवं विनाशशील) है, यह कहा जा रहा है—

(३) यह संसारवृक्ष अश्वत्थ है अर्थात् श्वः (आगामी कल) पर्यन्त रहने वाला नहीं है क्योंकि संसार की सभी वस्तुएँ उत्पत्ति के साथ-साथ ही क्षण-क्षण में नाश की ओर चलती हैं एवं अन्त में जिस अव्यक्त से उत्पन्न हुई थी उस अव्यक्त में ही लय को प्राप्त होती है (गीता २।२८)। अतः यह संसार अश्वत्थ (क्षणस्थायी) होने के कारण विश्वास के अयोग्य है, यही कहने का अभिप्राय है। तथापि

(४) **अव्ययम्**—यह संसारवृक्ष अव्यय है अर्थात् व्यय (क्षय) से रहित है अर्थात् नित्य है। शंका होगी कि जो अश्वत्थ (क्षण-क्षण में नाशवान्) है वह अव्यय (विनाशहीन या नित्य) कैसे हो सकता है? उत्तर—नहीं, यह संसारवृक्ष अनादि काल से अज्ञान से प्रवृत्त होकर चला आ रहा है, अतः सदा ही नाशवान् होने पर भी यह प्रवाहरूप से अव्यय (विनाशरहित या नित्य) प्रतीत होता है। जैसे गंगानदी का जल का क्षण-क्षण में परिवर्तन होते हुए भी प्रवाहरूप से गंगा एकही रूप से स्थायी ही प्रतीत होती है, संसारवृक्ष भी उसीप्रकार है। अनादि काल से कितने देह, इन्द्रियाँ, मन, प्राण इत्यादि का आविर्भाव हुआ है एवं जल के बुलबुला के समान वे सब लयप्राप्त हुए हैं किन्तु अनन्त काल तक इसप्रकार आविर्भाव तथा तिरोभाव का प्रवाह इस सुप्रसिद्ध मायामय संसारवृक्ष का अवलम्बन करके ही चलता रहेगा जब तक कि आदि-मूल आत्मरूपी ब्रह्म को साक्षात् अनुभव करके इस वृक्ष का छेदन न किया जाय। इसलिये जब तक अज्ञान है तब तक यह संसारवृक्ष अव्यय है। सभी तत्त्वज्ञ विद्वान्

(परमार्थज्ञाननिष्ठ) पुरुष अथवा श्रुतियाँ, स्मृतियाँ आदि संसारवृक्ष को इसप्रकार कहते हैं। यही स्पष्ट करने के लिये श्लोक में 'प्राहुः' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

(५) **छन्दांसि यस्य पर्णानि**—छन्द समूह अर्थात् वेदसमूह इस संसार-वृक्ष के पर्ण (पत्ते) हैं। जो 'छादन' (आच्छादन) करता है उसे छन्द कहा जाता है। 'छादन' शब्द का अर्थ है—(क) प्रकृष्टरूप से आवरण करना अथवा (ख) रक्षा करना अथवा (ग) शोभा वृद्धि करना। (क) वृक्ष के पत्ते जिस प्रकार वृस को आच्छादित करके (चारों ओर से आवृत करके) वृक्ष के जीवन का सूचक होते हैं, उसीप्रकार वेद भी शुभाशुभ कर्मों के (धर्माधर्म के) फल को प्रकाशित कर जीव का धर्म में प्रवृत्त कराकर यह जीवन केवल जन्म से मृत्यु में जाने के लिये नहीं है परन्तु परमानन्दप्राप्ति ही इसका अन्तिम लक्ष्य है, ऐसा निर्णय कर जीवन के सारे दोषों को आच्छादित कर उसकी सफलता का निर्देशक होकर सजीवता सूचित करता है। इसलिये वेद समूह छन्द (अधर्मादि दोषों के आच्छादक) होकर पत्तों के समान कार्य करते हैं। (ख) समस्त वेद (विशेष करके ऋग्, साम, यजुः ये तीनों) कर्मकाण्डादि यज्ञ, दान, तपस्या आदि का विधान कर संसार वृक्ष को अर्थात् प्रधानतः मनुष्यरूपी जीवों को सब ओर से रक्षण करते हैं) वृद्धि के मार्ग में प्रवृत्त करते हैं इसलिए भी वेदरुप छन्द संसारबृक्ष के पर्ण (पत्ते) के समान हैं। (ग) छन्द या वेद के मार्ग का अनुसरण करने वाले पुरुष सब प्रकार से शोभायमान (सद्गुण-विशिष्ट) होते हैं। अतः छन्द (वेद) समूह जीवन की शोभा के हेतु होने के कारण वृक्ष के पर्ण के (पत्ते के) समान हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि वेदोक्त धर्म दो प्रकार के हैं—(१) प्रवृत्तिलक्षण। (२) निवृत्तिलक्षण। प्रवृत्तिलक्षण धर्म जगत् की स्थिति का कारण है एवं निवृत्ति लक्षण धर्म प्राणियों के अभ्युदय (समृद्धि) एवं निःश्रेयस (मोक्ष) का हेतु होता है। इसलिये पुराणादि में देखा जाता है कि भगवान् ने जगत् की सृष्टि कर जगत् की रक्षा करने के लिये पहले मरीच्यादि प्रजापतियों को प्रजा की (संतान की) उत्पत्ति के लिये प्रवृत्ति मार्ग में प्रेरित किया था एवं उसके पश्चात् सनक, सनातन आदि की सृष्टि कर निवृत्ति धर्म में (ज्ञान, वैराग्य लक्षण-विशिष्ट धर्म में) प्रवृत्त किया था। प्रवृत्ति मार्ग में रत हुए पुरुष जिससे वेदनिषिद्ध कर्म (अधर्म) का

अनुसरण कर अधोगति को आच्छादित (अप्रकाशित) रखकर वेदविहित धर्म का पालन कर अपनी समृद्धि की वृद्धि करके अपनी रक्षा कर सके एवं तत्पश्चात् चित्तशुद्धि लाभ कर परमपद प्राप्त (मोक्ष प्राप्त) होकर संसारवृक्ष का छेदन करके अपने मनुष्य जीवन को सुशोभित कर सके, यही वेद के वाक्यों का एकमात्र उद्देश्य है। इसीलिये इन्हें छन्द कहा जाता है एवं वे संसार वृक्ष के पत्ते के समान हैं। अब संसारवृक्ष के छेदन का उपाय क्या है ? यह कहते हैं—

(६) **यः तं वेद सः वेदवित्**—इस संसार वृक्ष के स्वरूप (यथार्थ तत्त्व को) जो जानता है वही ठीक ठीक वेद को जानने वाला है अब प्रश्न होगा कि संसार वृक्ष को जानने पर वेद का तात्पर्य कैसे जाना जाता है ? उत्तर—पहले ही कहा गया कि वेद में दो प्रकार का धर्म है—(१) प्रवृत्तिलक्षण धर्म (२) निवृत्तिलक्षण धर्म। कामवासना से प्रवृत्त होकर जीव अपने-अपने संस्कारवश काम करता है एवं उस कर्म का फल भोगने के लिये नव-नव (नये-नये) संस्कारमय देह को ग्रहण करके संसारप्रवाह में भटकता है। जब तक जीव स्वाभाविक प्रवृत्तिवश कर्म करता रहता है तब तक जीव संसार का यथार्थ स्वरूप नहीं जान सकता क्योंकि संस्कार वशीभूत होकर वह पशु के समान विवेकहीन होकर कर्म करता है—भविष्यत् में उस कर्म का क्या फल भोगना होगा, उसे विचार करने का अवसर भी उसको नहीं रहता है किन्तु किसी सुकृति के फलरूप से यदि किसी की वेदविहित कर्मादि में रूचि उत्पन्न हो तो वह स्वाभाविक प्रवृत्ति को दमन कर वेदमार्ग का अनुसरण करता है एवं उसके फलस्वरूप उसकी बुद्धि निर्मल (चित्तशुद्धि) होने के कारण वह विचार करने में समर्थ होता है कि वेदविहित धर्म-कर्मादि से भी जो सुखरूप फललाभ होता है वह अनित्य (क्षणस्थायी) है एवं उसके साथ-साथ दुःख का आविर्भाव होना भी संभव है। इसप्रकार विवेकज्ञान से सम्पन्न होने पर ही मनुष्य जान सकता है कि इस संसार वृक्ष से जो कुछ फल प्राप्त होता है वह अधोगति का अर्थात् दुःखमय संसारगति का कारण होता है एवं ऊर्ध्वमूल (ब्रह्मस्वरूपात्मा) से वह नीचे से नीचे एवं दूर से दूर ही चला जाता है अर्थात् कर्म की शाखाएं नीचाभिमुखी होने के कारण यह संसारवृक्ष अःधशाख है। महापुण्य का फल भी क्षणस्थायी है, अतः यह **अश्वत्थ**—है केवल अज्ञान जब तक रहता है तब तक

इसकी स्थिति नित्य तथा अविनाशी (अव्यय) प्रतीत होती है परन्तु वह माया-मरीचिका के दृश्य की भाँति भ्रान्तिदर्शन ही है। इसप्रकार भगवान् ने जैसा कहा है उसी प्रकार संसारवृक्ष का यथार्थ स्वरूप जानकर संसार से विरक्त होने पर एवं इससे तथा तीव्र पिपासा उत्पन्न होने पर 'इससंसार वृक्ष का मूल क्या है उसका अनुसंधान करने में तत्पर हो जाता है। जब तक संसार के अनित्यत्व एवं दुःखत्व का अनुभव नहीं होता है (गीता ९।३३) तब तक संसार से वैराग्य नहीं होता एवं वैराग्य बिना संसार के मूलस्वरूप सर्वात्मा ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान नहीं होता एवं उस ज्ञान के बिना संसारवृक्ष का छेदन अर्थात् मोक्ष का संभव नहीं होता। परमार्थ ज्ञान की प्राप्ति ही सर्ववेदों का एकमात्र तात्पर्य है। अतः संसारवृक्ष का स्वरूप जानने पर उक्त क्रम से परमतत्त्व को (जो सभी वेदों का अर्थ या प्रयोजन है उसको) जान लेता है। इसलिये संसार के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला स्वतः ही वेदार्थवित् अर्थात् वेद के अर्थ को जानने वाला होता है।

[उसी संसारवृक्ष के अन्य अङ्गों की कल्पना कही जाती है—]

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

अन्वय—गुणाः प्रवृद्धाः विषयप्रवालाः तस्य शाखाः अधः ऊर्ध्वम् च प्रसृताः, कर्मानुबन्धीनि मूलानि मनुष्यलोके अधः च अनुसंततानि।

अनुवाद—इस संसारवृक्ष की शाखाएँ नीचे और ऊपर की ओर फैली हुई हैं। वे शाखाएँ सत्त्व, रज तथा तम गुणों से वृद्धि को प्राप्त हुई और शब्द, स्पर्श आदि विषयरूप प्रवाल (कोपल) उन शाखाओं से अंकुरित हुए हैं अर्थात् इस संसारवृक्ष की गुणों से बढ़ी हुई और विषयरूप कोपलों वाली शाखायें नीचे तथा ऊपर की ओर फैली हुई हैं एवं कर्मफलजनित राग-द्वेष आदि की वासनाएँ जो मनुष्य के शरीर में धर्माधर्म विषयक प्रवृत्तियों की कारण होती हैं वे अवान्तर-मूल के समान देवादि की अपेक्षा नीचे मनुष्यलोक में भी फैली हुई हैं क्योंकि मनुष्य का ही विशेषरूप से कर्म में अधिकार है।

भाष्यदीपिका—पूर्व श्लोक में मायोपाधिक ब्रह्म या पुरुषोत्तम को प्रधान मूल और हिरण्यगर्भादि कार्योपाधिक जीवों को उस वृक्ष की शाखायें कहा गया है। इन कार्योपाधिक (अविद्या-उपाधि विशिष्ट) जीवों में जो कपूयचरण (कदाचारी) हैं वे दुष्कृतिशाली पुरुष अधोगति (पशु आदि तथा स्थावर आदि योनि) को प्राप्त होते हैं। और जो रमणीयचरण (सदाचारी) हैं वे सुकृतिशाली जीव ऊर्ध्वगति (देवादि योनि) को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार संसारवृक्ष की शाखाएँ नीचे तथा ऊपर की ओर फैली हुई हैं। ये सब शाखाएँ **-गुणप्रवृद्धाः**—सत्त्व, रज, और तम ये तीनों गुण ही संसार की समस्त वस्तुओं के उपादान कारण हैं तथा ये तीनों गुण समस्त देह-इन्द्रियादि के रूप से परिणत हुए हैं। जल के सेचन से वृक्ष की शाखाएँ जिस प्रकार वृद्धि को प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार अपने उपादान कारणरूप तीनों गुणों से संसारवृक्ष की शाखाएँ बढ़ी हुई हैं अर्थात् स्थूलभाव को प्राप्त हुई हैं। **विषयप्रवालाः**—शाखा में जैसे नवीन पल्लव (कोपल) अंकुरित होते हैं वैसे ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पंच भोग्य विषय संसारवृक्षी शाखाओं के प्रवाल हैं। देह-इन्द्रियादि सभी पूर्व जन्म के कर्मों के फलरूप से प्राप्त होते हैं-ये कर्म-फलरूप देहादि ही संसारवृक्ष की शाखायें हैं; देह-इन्द्रियादिरूप शाखाओं से शब्दादि विषय कोपलों के समान अंकुरित से होते हैं। इसलिये ये शरीरादिरूप शाखायें विषयरूपी कोपलों वाली हैं। अब संसारवृक्ष की शाखायें (देह-इन्द्रियादि के संघातरूप जीवसमूह) किस प्रकार से अवस्थान करती हैं, यह कहा जा रहा है—**तस्य शाखाः**—उस संसारवृक्ष की शाखायें जो तीन गुणों से प्रवृद्ध (प्रकृष्टरूप से वृद्धि को प्राप्त) एवं विषय प्रवालों से युक्त (शब्दादि विषयों के प्रति अनुरागविशिष्ट) हैं वे देह-इन्द्रियादि के संघातरूप जीव **अधः ऊर्ध्वम् च प्रसृताः**—नीचे और ऊपर की ओर फैली हुई हैं। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार सुना जाता है उसी के अनुसार ज्ञान होता है एवं ज्ञान के अनुसार कर्म किया जाता है। उस कर्म तथा ज्ञान के फल का भोग करने के लिये देह-इन्द्रियादिरूप संघात विशिष्ट जीव की उत्पत्ति होती है। ज्ञान तथा कर्म असंख्य होने के कारण उनके फलस्वरूप जीव भी असंख्य है। वृक्ष की शाखाओं के समान संसारवृक्ष की ये जीवरूपी शाखायें नीचे की ओर मनुष्य से लेकर स्थावर पर्यन्त और ऊपर की ओर धर्मपर्यन्त (अर्थात् विश्वकर्ता ब्रह्मापर्यन्त) फैली हुई

हैं। **कर्मानुबन्धीनि मूलानि**—[संसारवृक्ष का परममूल (उपादान कारण) पुरुषोत्तम है, यह पहले ही बतलाया जा चुका है। अब जिन मूलों के सम्बन्ध में कहा जा रहा है वे प्रधानमूल नहीं हैं, परन्तु अवान्तरमूल हैं।] संसार में कर्म करने पर उसके फलस्वरूप राग-द्वेषादि वासनायें उत्पन्न होती हैं एवं मूल के समान वे ही धर्म-अधर्म विषयक प्रवृत्ति का कारण होती हैं अर्थात् जीव उन वासनाओं के संस्कारों के द्वारा प्रेरित होकर धर्म अथवा अधर्म करने में प्रवृत्त होता है। फिर उन धर्माधर्म कर्मों से पुनः वासना की उत्पत्ति होने के कारण राग-द्वेषादि वासना कर्म के अवान्तरभावी हैं अर्थात् आगे-पीछे होने वाली हैं। पुण्य-पापरूप कर्म जिनका अनुबन्ध अर्थात पीछे पीछे होने वाला है अर्थात् जिनकी (जिन वासनाओं की) उत्पत्ति के पश्चात् पुण्य-पापरूप कर्म प्रवृत्त होते हैं वे वासनायें कर्मानुबन्धी कहलाती हैं अतः वे कर्मानुबन्धी रागद्वेषरूप वासनायें ही संसारवृक्ष का अवान्तर [अप्रधान अर्थात् छोटे-छोटे जड़ (मूल)] हैं वे **मनुष्यलोके अधश्च अनुसंततानि**—मनुष्य ही लोक है इस अर्थ में 'मनुष्यलोके' शब्द निष्पन्न हुआ है। मनुष्य का ही धर्म-अधर्म, हित-अहित इत्यादि विचार कर कर्म करने का अधिकार है। इसलिये यहाँ विशेषरूप से 'मनुष्यलोके' शब्द का प्रयोग हुआ है। देवादि लोकों की अपेक्षा मनुष्यलोक नीचे अवस्थित है, अतः मनुष्यलोक में ही धर्म-अधर्म कर्मों के हेतुभूत राग-द्वेषादि वासनाएँ अधः से अधः (नीचे से नीचे) सर्वश्रेणी में अनुसन्तत है अर्थात् अविच्छिन्नरूप से प्रविष्ट (व्याप्त) है। 'च' शब्द से ऊर्ध्व शब्द को भी ग्रहण किया गया है अर्थात् मनुष्य कर्म का अधिकारी होने के कारण मनुष्यलोक में ऊँची-नीची सर्व श्रेणियों में ही इन राग-द्वेषादिरूप कर्मानुबन्धी मूल-समूहों से अनुप्रविष्ट (अपने-अपने कर्म के अनुसार व्याप्त) है।

टिप्पणी-(१) श्रीधर—तस्य शाखाः अधः ऊर्ध्वम् च प्रसृताः—पूर्व श्लोक में कार्योपाधिक हिरण्यगर्भादि जीवगण शाखास्थानीय हैं, ऐसा बताया गया है। उनमें जो दुष्कृतिशाली (बुरे कर्म करने वाले) हैं वे पशु आदि योनियों में विस्तार को प्राप्त होते हैं अर्थात् दुष्टकर्मों की अतिशयता के अनुसार पशु-आदि में भी नीची से नीची योनियों को प्राप्त करते हैं और जो शुभ कर्म करने वाले हैं वे ऊपर देवादि योनियों में विस्तार को प्राप्त होते हैं अर्थात् शुभ कर्मों की अतिशयता के अनुसार

ऊँचे से ऊँचे देवादि के शरीरों को प्राप्त होते हैं। **गुणप्रवृद्धाः विषयप्रवालाः**– जल के सींचने से जिस प्रकार वृक्ष की शाखायें वृद्धि को प्राप्त होती हैं उसी प्रकार संसारवृक्ष की शाखायें सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणों की वृत्तियों के द्वारा सिंचित होकर यथायोग्य वृद्धि को प्राप्त होती हैं। तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, ये पंच विषय इन शाखाओं के प्रवाल (पल्लवस्थानीय) हैं क्योंकि वे प्रशाखा-स्थानीय इन्द्रिय वृत्तियों से संयुक्त है **अधश्च मूलानि अनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके**– 'अधः च' (नीचे भी) इसमें 'च' शब्द से यह सूचित किया गया है कि ऊपर भी इस संसारवृक्ष की नानाप्रकार जड़े फैली हुई (जमी हुई) हैं। मुख्यमूल ईश्वर तो एक ही है। अब जिस मूल (जड़) की बात कही जा रही है वे सब अवान्तर जड़े हैं–वे तत् तत् विषय के भोगों की वासनारूप लक्षणों वाली हैं। उन अवान्तर मूलों का कार्य क्या है? उसे अब बताते हैं—वे 'मनुष्यलोके अनुबन्धी' हैं अर्थात् पुनः पुनः बांधने वाली हैं। कर्म ही जिनका अनुबन्ध अर्थात् पीछे होने वाला फल है, वह कर्मानुबन्धी कहलाता है। नीचे के (मनुष्य, पशुआदि लोक में) एवं ऊपर के (देवादि लोकों में) जो कुछ भोग किया गया है उससे कर्म का क्षय हो जाने पर उन-उन भोगों की वासना द्वारा मनुष्यलोक को प्राप्त हुए जीवों की उन उन वासनाओं के अनुरूप कर्मों में प्रवृत्ति होती है। [अतः वासना के पश्चात् कर्म उत्पन्न होकर मनुष्य के बन्धन का कारण होता है। इसलिये वासनाओं को अवान्तर मूल (छोटी-छोटी जड़ें) कहा जाता है।] मनुष्यलोक में ही कर्म करने का अधिकार है–अन्यलाकों में नहीं। इसलिये 'मनुष्यलोक' इस शब्द का यहाँ विशेषरूप से प्रयोग हुआ है।

(२) **शंकरानन्द**—जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है वही ईश्वर के प्रसाद से जगत् के कारण (परमब्रह्म) का ज्ञान प्राप्त कर 'कार्यरूप संसारवृक्ष कारणमात्र ही है अर्थात् ब्रह्मरूप ही है' यह विशेषरूप से जानकर ब्रह्मविद होता है एवं विदेह मुक्ति भी प्राप्त कर लेता है। और जिसका चित्त अभी भी मलिन है, उसके लिये पहले संसाररूप वृक्ष के स्वरूप का विज्ञान (विशेष ज्ञान) सम्यक्रूप से प्राप्त होने पर 'संसार असत्' है (मिथ्या है) इस प्रकार की बुद्धि से संसार के प्रति विरक्ति होने पर ही उसको ज्ञान तथा मोक्ष सिद्ध होता है, यह कहने के लिये श्रीभगवान् संसारवृक्ष का विशेषरूप से

वर्णन करते हैं—**तस्य शाखाः अधः ऊर्ध्वम् च प्रसृताः**—पहले श्लोक में जैसे लक्षण बतलाये गए हैं–उन लक्षणोंवाले संसारवृक्ष की शाखा एवं उपशाखा स्थानीय पाप-पुण्य कर्मों के फलीभूत देह समूह अधः और ऊर्ध्व (नीचे तथा ऊपर) प्रसृत (विस्तृत) हैं। यहां 'अधः' शब्द से मनुष्य से लेकर स्थावर तक एवं ऊर्ध्व शब्द से मनुष्य से लेकर ब्रह्मलोक तक समझाया गया है। अतः उक्त पाप-पुण्य रूप कर्मों के फलस्वरूप जो देह प्राप्त होती है वह नीचे स्थावर तक और ऊपर ब्रह्मलोक तक भी फैली हुई है अर्थात् सर्वत्र व्याप्त है, यह अर्थ है। इस वाक्य से कहने का अभिप्राय यह है कि यदि ऐसी शंका हो कि इस क्षणिक देह के ध्वंस (नाश) हो जाने पर पुरुष की स्वतः ही मुक्ति हो जायगी फिर उसके (पुरुष के) प्रयत्न से क्या प्रयोजन है ? उत्तर—ऐसी शंका युक्त नहीं है, क्योंकि पूर्वजन्मकृत पुण्य-पापरूप जो संचित कर्म हैं वे अनन्त, विलक्षण तथा विचित्रफल देनेवाले हैं एवं 'भोग के बिना कर्म क्षीण नहीं होता है' इसप्रकार शास्त्रसिद्ध नियम रहने के कारण इस देह का नाश होने पर भी वे कर्म स्थावर से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त उन-उनके कर्मानुसार तत्-तत् स्थानों में पुरुष के शरीर उत्पन्न करते हैं इसलिये पुरुष के प्रयत्न के बिना मुक्ति स्वतःसिद्ध नहीं हो सकती। यदि शंका हो कि जिन कर्मों से देह उत्पन्न होती है उन कर्मों के फल के अनुभव का अन्त होने पर देह स्वयं ही नष्ट हो जाती है, अतः स्वयं ही मुक्ति हो जायेगी तो इसके उत्तर में कहा जायगा कि इसप्रकार की शंका युक्त नहीं है। क्योंकि बार-बार जो कर्म किये जाते हैं उन कर्मों से शरीर प्रवृद्ध होते हैं अर्थात् बढ़ते रहते हैं, यह सूचित करने के लिये कहते हैं—**गुणप्रवृद्धाः**—गुणों से (सत्त्वादि तीनों गुणों के विचार दया, दान, काम, क्रोध, लोभ आदि से तथा उनके कार्य पुण्य एवं पापादि से) प्रवृद्ध होते हैं (प्रकृष्टरूप से वृद्धि को प्राप्त होते हैं) अर्थात् कामादि तथा पाप-पुण्यादि कर्मों से उत्तरोत्तर बढ़ते रहते हैं। उत्तरोत्तर वृद्धि के कारण अब बताते हैं—**विषयप्रवालाः**—जिसप्रकार शाखाओं से अंकुर उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार ही जिनसे विषय (शब्दादि भोग्य पदार्थ) रूप प्रवाल (अंकुर) उत्पन्न होते हैं उनको विषयप्रवाल कहते हैं। शाखा जिसप्रकार प्रवालों को (अंकुरों को) उत्पन्न करती है उसीप्रकार जहाँ जहाँ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध आदि भोग्य पदार्थ हैं उन पदार्थों के

सन्निकर्ष (संयोग) द्वारा (भोग्यत्वबुद्धि उत्पन्नकर) संसारवृक्षरूप देह उनमें काम, क्रोध, राग, द्वेष, और लोभ करके पुनः पुनः पाप-पुण्यादि कर्म कराती है, यही कहने का अभिप्राय है। [पाप-पुण्यरूप कर्मों के फल से उत्पन्न हुई देह समूह संसार-वृक्ष की शाखाएं (उपशाखाएं) हैं तथा शब्दादि भोग्य पदार्थ विषय हैं। देहादि का विषयों के साथ सङ्ग होने पर जो राग-द्वेष, काम, क्रोधादि उत्पन्न होते हैं तथा उनसे जो पाप पुण्यादि कार्य सम्पन्न होते हैं वे प्रवाल हैं। अतः उपशाखास्थानीय देहादि विषय-प्रवाल हैं।] काम आदि की तथा उनसे उत्पन्न हुए कर्मों की सिद्धि कारण कहते हैं—

कर्मानुबन्धीनि मूलानि अधः च अनुसंततानि—'अनु' शब्द का अर्थ है पश्चात् एवं जो बांधता है उसे बन्धी कहा जाता है। जितने काम्य नित्य, नैमित्तिक और प्रतिषिद्ध कर्म हैं वे ही पीछे अर्थात् अपनी उत्पत्ति के पश्चात् ही नाना शरीरों का उत्पादन कर नाना योनियों में भ्रमण कराकर बन्धन के कारण होते हैं। उन काम और कर्मों की उत्पत्ति का कारण क्या है, यह बतलाते हैं **मूलानि**—संसार के अवान्तर मूल (कारण) विषय-वासना या कर्म-वासना हैं। पूर्व श्लोकोक्त प्रधानमूल की अपेक्षा विषय वासना या कर्म-वासनारूप अवान्तर मूल समूह कर्म द्वारा जीव को जन्म-मृत्युरूप संसार में बन्धन करते हैं, इसलिए इन सब मूलों को कर्मानुबन्धः कहते हैं। 'अधः' शब्द का अर्थ है नीचे शरीरों में (अधोगति को प्राप्त हुए शरीरों में)। 'च' शब्द का अर्थ है ऊंचे शरीरों में यानी लिङ्ग नामक शरीरों में। विषयवासनारूप ये अवान्तर मूल समुह ऊंचे तथा नीचे शरीरों में 'अनुसन्तत' अर्थात् प्राणियों के कर्मों के अनुसार सर्वत्र व्याप्त होते हैं। **मनुष्यलोके**—मनुष्यलोक में। सर्वत्र विषय के प्रति कामना उत्पन्न होने पर वे कामनाएं कर्मों को कराती हैं और भोगवासनायें लिङ्ग शरीर में निरन्तर स्थित रहती हैं तात्पर्य यही है कि वासनाएं कामनाओं को उत्अन्न करती हैं और कामनाएं ऊंच (पुण्य) और नीच (पाप) कर्म कराती हैं एवं कर्म बार-बार शरीर की सृष्टि करते हैं। इसप्रकार वासनाओं से, कामादि से तथा पुण्य-पापादि कर्मों से सर्वतः (चारों ओर) शरीर की परम्पराएं बढ़ती हैं, कहीं घटती नहीं हैं, यही 'अनुसंततानि' (सर्वत्र व्याप्त) शब्द का तात्पर्य है। अतः संसारवृक्ष पर आरूढ़ (चढ़े हुए) तथा विषय सुखरूप आशापाश में बंधे हुए मनुष्य को जन्म, मृत्युरूप

दुःख के प्रवाह में पतन के बिना किसी प्रकार, कहीं भी, तथा कभी मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता है। इसलिये कर्म एवं उपासना के फलरूप से मिलनेवाले स्वर्ग, सत्यलोक तथा बैकुण्ठ आदि में और उनके सुख में अनित्यत्व तथा असत्यत्व बुद्धि से मनुष्य को वैराग्य उत्पन्न हो सके उसकी सिद्धि के लिये मायारूप उपाधि से युक्त (मायाविशिष्ट) ब्रह्म से उत्पन्न हुए संसारवृक्ष में स्कन्ध, शाखा और उपशाखारूप से वर्णित माया के कार्यभूत महत्तत्वादि उपाधिवाले हिरण्यगर्भ, विराट आदि में, सत्त्वादि तीन गुणरूप उपाधि वाले ब्रह्मा, विष्णु आदि में तथा इन्द्रादि में मायिकत्व तथा अनित्यत्व का सूचन किया गया है। कर्म, उपासना, उनके साधन तथा उनके फल का प्रतिपादन करने वाले वेदवाक्यों का संसारवृक्ष के पत्तेरूप से वर्णन करके मुमुक्षु को उनकी (वेदवाक्यों की) वट तथा पीपल के पत्ते के समान उपेक्षा करनी चाहिए। यही भगवान् की वाणी से सूचित होता है।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्व श्लोक में कहा गया है कि संसार वृक्ष ऊर्ध्वमूल है अर्थात् माया विशिष्ट ब्रह्म ही [जो सबसे ऊर्ध्व में (सर्वोत्तम) है या सबसे परे है वह] इस संसाररूप वृक्ष का प्रधानमूल है। पूर्वश्लोक में यह भी कहा गया है कि यह संसार वृक्ष अधःशाख है अर्थात् हिरण्यगर्भादि माया के कार्यरूप (अविद्या-उपाधि विशिष्ट) जीव समूह इस संसार वृक्ष की शाखाएं हैं। ब्रह्म की शाखाएं हैं। ब्रह्म की अपेक्षा हिरण्यगर्भादि नीचे स्थित हैं (क्योंकि कारण की अपेक्षा कार्य निकृष्ट होते हैं)। इसलिये जीवरूपी शाखाएँ अधः में (नीचे) स्थित रहने के कारण संसार वृक्ष को अधःशाख कहा गया है अब उन शाखाओं का विशेषत्व तथा प्रधान मूल (ब्रह्म) को छोड़कर जो अवान्तर असंख्य मूल हैं उन मूलों के विशेषत्व का वर्णन श्रीभगवान् कर रहे हैं।

शाखाओं का विशेषत्व—हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) से लेकर चींटी तक सब प्राणी ही (जीव समूह ही) संसार वृक्ष की शाखाएँ हैं, यह पहले ही कह चुके हैं। ये समस्त शाखास्थानीय जीव अपनी-अपनी दुष्कृति तथा सुकृति के अनुसार अधः (नीची) तथा ऊर्ध्व (ऊँची) योनियों को प्राप्त होते हैं। श्रुति में इसीलिये कहा है जो कपूयाचरण (कदाचारी) हैं वे समस्त दुष्कृतिशाली (पापी) अधोगति को

प्राप्त होते हैं अर्थात् पशु आदि स्थावर आदि योनियों को प्राप्त होते हैं। एवं उनमें जो रमणीयचरण (सदाचारी) हैं वे सुकृतिशाली (पुण्यात्मा) जीव ऊर्ध्व-गति को प्राप्त होते हैं अर्थात् देवादि योनियों में जन्म लेते हैं। इस प्रकार संसार वृक्ष की शाखाएँ ऊर्ध्व तथा अधः (ऊपर की ओर तथा नीचे की ओर) प्रसृत (विस्तृत) हैं। अध्यात्म रामायण में भी ऐसा ही कहा है—"ऊर्द्धाधो भ्रमते नित्यं पापपुण्यात्मकः स्वयम्" अर्थात् मनुष्य लोक से सत्यलोक तक धर्मात्माओं के वासस्थान हैं और मनुष्य लोक से पशु-पक्षी, कीट पतंगादि निम्न योनियाँ पापात्माओं के स्थान हैं ये जीवरूपी शाखाएँ **गुणप्रवृद्धाः**—हैं अर्थात् जिस प्रकार वृक्ष की शाखाएँ जल के सेचन से वृद्धि को प्राप्त (स्थूलीकृत) होती हैं, उसी प्रकार ये सब शाखास्थानीय जीव भी सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणों से उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होते हैं अर्थात् जब तक तीनों गुणों में से किसी के भी अधीन रहते हैं, तब तक संसार प्रवाह उत्तरोत्तर बढ़ता है—उसके नाश की कोई संभावना नहीं होती है क्योंकि काम, क्रोध, लोभादि गुणों के ही विकार हैं एवं उनसे प्रवृद्ध होकर ही जीव समूह पाप-पुण्य रूप कर्म करके उनके फलों का भोग करने के लिये जन्म-मरणरूप संसार में भटकते हैं। केवल यही नहीं परन्तु ये शाखाएँ **विषयप्रवालः**—भी हैं। वृक्ष की शाखाओं में जो नई नई कोपलें अंकुरित होती हैं उन्हें प्रवाल कहा जाता है और देह, इन्द्रियादि के संघात को ही संसार वृक्ष का शाखास्थानीय जीव कहा जाता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंधरूप भोग्यवस्तुएँ विषय हैं, विषय के साथ देह, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदि का सङ्ग होने पर जो नई कोपलों के रक्तिम वर्ण के समान राग या काम (आसक्ति) उत्पन्न होते हैं वे इन ही जीवरूपी शाखाओं के पल्लव की (कोपलों की) पहली अवस्था है। विषय-सङ्ग से काम उत्पन्न होने पर क्रोध, लोभ इत्यादि उत्पन्न होकर इन सब कोपलों को बाद में रंग बदलकर दृढ़ कर देते हैं इसलिये गुणों से उत्पन्न हुए शब्दादि विषय के साथ देहादि विशिष्ट जीवों का सम्बन्ध होने पर राग, द्वेष, काम, क्रोध इत्यादि प्रवाल (कोपल) उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होते हैं। इसलिये भी इन शाखाओं को "विषय-प्रवाल" ही केवल नहीं कहा है वरन् तीनों गुण ही इनकी वृद्धि के कारण होने के कारण इन्हें 'गुणप्रवृद्ध' भी कहा गया है।

अवान्तर मूलों का विशेषत्व—संसारवृक्ष का प्रधान (आदि) मूल जो ब्रह्म है वह सदा ही अपने स्वरूप में स्थित होने के कारण नित्य, सत्य, अविकारी, निष्क्रिय, निर्गुण, शुद्ध चैतन्यस्वरूप है। साधारणतः कारण का स्वरूप कार्य में अनुप्रविष्ट हुआ दिखाई देता है किन्तु संसार का स्वरूप उसके आदि कारण (मूल) ब्रह्म के स्वरूप से सर्वथा विपरीत है क्योंकि संसार की सृष्टि आदि का कारण माया या प्रकृति ही है एवं माया के कार्य ब्रह्म में अध्यस्त होने के कारण अर्थात् ब्रह्म को अधिष्ठान कर प्रतीत होने के कारण ब्रह्म को संसार का मूल कहा जाता है। ब्रह्म में जो एक अनिर्वचनीया कल्पनाशक्ति है, उसे ही माया कहते हैं। अतः समस्त संसार (कार्य-कारण सहित) कल्पित ही है। काम या वासना से कल्पना होती है, इसलिये श्रुति में कहा हैं—'सो यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति, यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्मकुरुते तदभिसम्पद्यते' (बृ० उ०) अर्थात् जीव का जिस प्रकार का काम (कामना या वासना) होता है उसी प्रकार उसका क्रतु अर्थात् संकल्प होता है, जैसा संकल्प होता है उसी प्रकार पाप या पुण्य कर्म करता है एवं कर्मों का फल भोगने के लिये उसे नाना योनियों में भ्रमण करना पड़ता है। कहने का तात्पर्य यह है कि कल्पित या मिथ्या वस्तु किसी सत्वस्तु का अधिष्ठान कर ही भासती है। अतः कल्पित संसार का भी सद्ब्रह्मस्वरूप मूल (आदि कारण या अधिष्ठान) है किन्तु जीवों के संसार चक्र में भ्रमण का कारण काम या वासनाएँ हैं अर्थात् वासनायें ही संसारवृक्ष का अवान्तर मूल हैं। पहले ही कहा है कि शाखास्थानीय जीवसमूह विषयप्रवाल हैं अर्थात् शब्दादि विषयों के साथ देह-इन्द्रियादि के संयोग से कोपलों के समान राग या काम उत्पन्न होता है एवं उस काम या वासनाओं से द्वेष, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि नाना प्रकार की वृत्तियां उत्पन्न होती हैं (गीता २।६२-६३) एवं उनसे संकल्प का उदय होने के पश्चात् जीवों की धर्म तथा अधर्म रूप कर्म में प्रवृत्ति होती है। अतः विषयवासना या कर्मवासनारूप अवान्तर मूलसमूह (छोटी-छोटी जड़ें) कर्मानुबन्धी है। अनुबन्धी शब्द का अर्थ है पश्चात्भावी [कर्म (धर्म-अधर्म या पुण्य-पापरूप कर्म) जिसका अनुबन्ध (पीछे-पीछे चलनेवाला) है उसे अनुबन्धी कहा जाता है।] राग-द्वेषादि संस्कार से उत्पन्न हुई वासना के पश्चात् धर्माधर्म रूप कर्मों में प्रवृत्ति होती है, इसलिये संसारवृक्ष के नाना-

प्रकार वासनारूप छोटी-छोटी मूलें कर्मानुबन्धी हैं अथवा 'अनु' शब्द का अर्थ है पश्चात् एवं बन्धी शब्द का अर्थ है जो संसार बन्धन में डालता है वासनाओं से उत्पन्न हुए कर्मों के पश्चात् ही बन्धन होने के कारण वासनारूप मूल को कर्मानुबन्धी कहा गया है। वासना से कर्म की प्रवृत्ति एवं कर्म के अनु (पश्चात्) कर्मफल भोगने के लिये जीव पुनः पुनः शरीर परिग्रहण कर संसार बन्धन में भटकते रहते हैं—यही कहने का अभिप्राय है। इस प्रकार वासनायें मनुष्यलोक में अधः अर्थात् नीचे अनुसन्तत यानी अपने अपने कर्मों के अनुसार सर्वतः व्याप्त अर्थात् सब में अनुप्रविष्ट हैं। मनुष्य ही शास्त्र कर्म के अधिकारी हैं अर्थात् शास्त्रोक्त विधानानुसार हित-अहित, धर्माधर्म इत्यादि विचारकर कर्म द्वारा अपने को बद्ध या मुक्त करने में समर्थ है किन्तु मनुष्य के बिना सभी प्राणी केवल संस्कार द्वारा वशीभूत होकर ही कर्म करते हैं। इसलिये विशेष करके 'मनुष्यलोके' शब्द का उल्लेख किया गया है। 'अधश्च' इस पद में 'च' शब्द द्वारा ऊर्ध्व में (ऊँचे में) भी अनुसन्तत अर्थात् सर्वतः व्याप्त है, ऐसा सूचित किया गया है अर्थात् कर्म के अधिकारी मनुष्यलोक में ऊँचे तथा नीचे सर्व श्रेणियों में (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इत्यादि में) संसारवृक्ष के राग-द्वेषादि युक्त अवान्तरमूल समूह अर्थात् वासनायें (जो कर्मानुबन्धी हैं अर्थात् जो कर्म कराकर पीछे संसार-बन्धन का कारण होते हैं वे) सर्वत्र व्याप्त हैं। [वासना तथा तज्जनित कर्म के भेदानुसार ही मनुष्य में श्रेणी विभाग दिखाई देता है।] अभिप्राय यह है कि जब तक मनुष्य काम तथा वासनाओं से युक्त रहते हैं तब तक अवश होकर वे कर्म करते हैं एवं कर्म-फल को भोग करने के लिये जन्म-मृत्युरूपी संसार प्रवाह में बहते रहते हैं। और जब संसारवृक्ष की इन अवान्तरमूलों से रहित होकर ऊर्ध्वमूल का [अर्थात् संसाररूपी नाटक के एकमात्र शुद्धचैतन्यस्वरूप अधिष्ठान सत्ता का] अनुसंधान कर उसके साथ एक हो जाते हैं, तब वासनारूप अवान्तरमूलों को सर्व प्रकार से एवं सदा के लिये छिन्न करके संसारवृक्ष को नाश करने में मनुष्य समर्थ होता है। अतः उस आत्मस्वरूप प्रधानमूल (ब्रह्म) में ही पहुँचना प्रत्येक मनुष्य का एकमात्र कर्तव्य है, यह सूचित किया गया है। आगे के दो श्लोकों में इस बात को ही स्पष्ट करेंगे।

यदि संसारवृक्ष अनादि हो एवं पुनः पुनः रागद्वेषादियुक्त वासनाओ के द्वारा

उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त हो तो यह न तो स्वयं विनाश को प्राप्त होगा और न इसका उच्छेद करने की किसी की सामर्थ्य होगी। अतः किसी अवस्था में संसार से कभी मुक्ति-लाभ करना सम्भव नहीं होगा, इसप्रकार की शंका होने पर उसका निराकरण करने के लिये श्रीभगवान् कह रहे हैं—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

अन्वय—यह अस्य रूपम् न उपलभ्यते तथा न अतः न च आदिः न च संप्रतिष्ठा (उपलभ्यते), एनं सुविरूढमूलम् अश्वत्थम् दृढेन असङ्गशस्त्रेण छित्त्वा ततः तत्पदम् परिमार्गितव्यम् यस्मिन्गताः भूयः न निवर्तन्ति (निवर्तन्ते) यत पुराणी प्रवृत्तिः प्रसृता तमेव च आद्यम् पुरुषं प्रपद्ये।

अनुवाद—इस संसार में स्थित अविद्याग्रस्त प्राणियों को इसको जैसा कि ऊर्ध्वमूलत्व आदि रूपों से कहा है, ऐसा रूप दिखाई नहीं देता [क्योंकि वह (संसारवृक्ष) स्वप्न मरूमरीचिका या गन्धर्व नगर के समान मिथ्या होने से देखते देखते नष्ट हो जाने के स्वभाववाला है। इसीसे इसका अन्त (अवसान या समाप्ति अर्थात् इतने समय में यह समाप्त हो जायगा ऐसा) दिखाई नहीं देता, न यहाँ से इसका आरम्भ हुआ है ऐसा इसका आदि भी दिखाई नहीं देता है क्योंकि यह अनादि है और 'न संप्रतिष्ठा' (स्थिति अर्थात् मध्य) ही नहीं दिखाई देता हैं [क्योंकि जिसका आदि या अन्त नहीं दिखायी देता है उसका मध्य कैसे दिखाई देगा।] यह आदि-अन्त-मध्य से हीन मायामरीचिका के समान संसाररूप अश्वत्थवृक्ष बहुत कठिनाई से छेदन किया जाने वाला एवं सर्वप्रकार से अनर्थ करने वाला है क्योंकि (अनादि अज्ञान से) यह सुविरूढमूल (अत्यन्त बद्धमूल) है। अतः इसका छेदन करने में एकमात्र शस्त्र असङ्ग ही है अर्थात् पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकेषणा का त्यागरूप वैराग्य है। इसप्रकार वैराग्य रूप (अनासक्तिरूप) शास्त्र से इस वृक्ष को छेदन कर अर्थात् मूल-सहित उखाड़कर

उसी पथ का (परमात्मज्ञान का) परिमार्गन (अन्वेषण) अर्थात् खोज करनी चाहिए जिसमें पहुँचकर फिर संसार की ओर नहीं लौटते। उसकी किसप्रकार खोज करनी चाहिए, सो बताते हैं—'वह परमपद जो आद्यपुरुष है अर्थात् सबके आदि में होने वाला है एवं जो इस सबको पूरित करके अवस्थित है अथवा सर्वपुरियों में (शरीरों में) शयन करके सर्वत्र विद्यमान है तथा जिससे संसारवृक्ष की प्राचीन (पुरानी-अनादि) प्रवृत्ति प्रसृत (विस्तृत) हुई है उस आद्यपुरुष के प्रति मैं प्रपन्न (शरणागत) होता हूँ [क्योंकि एकमात्र उसी की शरण में होकर ही उसकी खोज करनी चाहिए ।]

भाष्य दीपिका—इह—इस संसार में **अस्य रूपं न उपलभ्यते**—इसका (संसारवृक्ष का) स्वरूपका जिस प्रकार ऊपर में वर्णन किया गया है, ऐसा रूप उपलब्ध नहीं होता (दिखाई नहीं देता) क्योंकि यह स्वप्न, मरुमरीचिका, माया और गन्धर्वनगर के समान मिथ्या होने से देखते-देखते नष्ट हो जाने के स्वभाव वाला है। इसलिये **न अन्तः**—इसका अन्त (अवसान या समाप्ति) भी नहीं दिखाई देती है (क्योंकि इसकी कोई सीमा नहीं है) **न च आदिः**—इसका आदि भी नहीं दिखाई देता है अर्थात् यहाँ से आरम्भ होकर यह संसार चला है ऐसा किसी से नहीं जाना जा सकता। **न च संप्रतिष्ठा**—इसकी संप्रतिष्ठा (स्थिति) अर्थात् मध्यम अवस्था भी नहीं दिखाई देती है (क्योंकि आदि और अन्त रहने पर ही स्थिति (मध्यम अवस्था) की उपलब्धि होती है-अन्यथा नहीं।) **एनं सुविरूढमूलं अश्वत्थम्**—इस उपर्युक्त सुविरूढमूल अर्थात् जिसकी मूलें (जड़ें) अनादि अज्ञान से अत्यन्त दृढ़ हो गई हैं ऐसे संसाररूप अश्वत्थ को **असङ्गशस्त्रेण**—असङ्ग अर्थात् अनासक्ति या विषयवैराग्यरूप अस्त्र से [पुत्र, वित्त एवं लोक सम्बन्धी तीनों एषणाओं (वासनाओं) को त्याग करके वैराग्यरूप अस्त्र के द्वारा] **दृढेन**—परमात्मा के सम्मुख होनारूप निश्चय से दृढ किये हुए [मैं अवश्य ही संसार के आदिमूल परमात्मा के स्वरूप के ज्ञान को प्राप्त कर दुःखमय संसार से अपने को उद्धार करूँगा इसप्रकार के तीव्र संवेग द्वारा सुदृढ़ किये हुए] तथा पुनः पुनः विवेक के अभ्यासरूप पत्थर पर पैनाये हुए असङ्ग (विषय वैराग्य) रूप शस्त्र से **छित्त्वा**—इस संसारवृक्ष को बीजसहित (मूलसहित) उखाड़कर [अर्थात् वैराग्य एवं शम दमादि साधन सम्पत्ति द्वारा

समस्त कर्मों का त्याग करके—(मधुसूदन)] ततः—उसके पश्चात् [गुरु की शरण में जाकर-(मधुसूदन)] **तत्पदं परिमार्गितव्यम्**—अश्वत्थरूप संसारवृक्ष से परे स्थित उस परमवैष्णवपद की [वेदान्त वाक्य के विचार द्वारा-(मधुसूदन)] खोज करनी चाहिए अर्थात् जानना चाहिए ['सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' (वह खोजने योग्य है, वह जिज्ञासा करने योग्य है), इस श्रुति के अनुसार वह परमपद श्रवण आदि के द्वारा जानने योग्य है—ऐसा यहाँ कहने का तात्पर्य है-(मधुसूदन)]। इस पद को खोजने से क्या फल प्राप्त होता है ? इसके उत्तर में कहा जाता है—**यस्मिन्गताः न निवर्तन्ति**—जिस पद को ज्ञान द्वारा खोज कर (जिस पद में पहुचे हुए) पुरूष संसार में फिर नहीं लौटते अर्थात् पुनर्जन्म ग्रहण नहीं करते हैं। उस पद की किस प्रकार खोज करनी चाहिए, सो बताते हैं—**यतः पुराणी प्रवृत्तिः प्रसृता**—जिस पुरूप से इन्द्रजाली (बाजीगर की) मायाजनित हाथी आदि के समान इस मायारचित संसारवृक्ष की पुरानी (चिरन्तन अर्थात् सनातन) प्रवृत्ति प्रसृत (निसृत) हुई है अर्थात् विस्तार को प्राप्त होकर निकली है। **तम् एव च आद्यम् पुरुषम् प्रपद्ये**—[जो केवल ऐसा ही नहीं है परन्तु जो आद्य है अर्थात् संसार का प्रधानमूल (कारण) होने से सबका आदि है] एवं पुरूष भी है [अर्थात् जिससे यह सब विश्वप्रपंच पूर्ण (सम्यक्प्रकार से व्याप्त हुआ है अथवा जो समस्त पुरियों (शरीरों) में शयन कर सर्वत्र विद्यमान है-(मधुसूदन)] संसारवृक्ष की चिरन्तन प्रवृत्तियों के आधारभूत, आद्यपुरूप (आदि पुरूष) की मैं शरण हूँ'। इस भाव से अर्थात् इसप्रकार से उस पुरुष के शरणागत होकर उनको खोजना (जानना) चाहिए- यही कहने का तात्पर्य है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—इह—इस संसार में स्थित प्राणियों के द्वारा **अस्य रूपं न उपलभ्यते**—इस संसारवृक्ष का रूप जैसा 'ऊर्ध्वमूलवाला' आदि प्रकार से वर्णित किया गया है, उस प्रकार का रूप उपलब्ध नहीं किया जाता (दिखाई नहीं देता) **न अन्तः**—इसक अन्त अर्थात् समाप्ति भी नहीं दिखाई देती है क्योंकि इसकी परम्परा का अन्त नहीं है। **न च आदिः**—इसका आदि भी नहीं दिखाई देता है क्योंकि यह अनादि है। **न च सम्प्रतिष्ठा**—इसकी स्थिति

(मध्यम अवस्था) भी नहीं उपलब्ध होती है क्योंकि आदि और अन्त न रहने पर स्थिति (मध्यावस्था) कैसे हो सकती है ? इसप्रकार होने के कारण इस संसारवृक्ष का छेदन करना बहुत कठिन है और यदि इसका छेदन न किया जाय तो यह अनर्थ करने वाला है। इस कारण इसका दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्र द्वारा छेदन करके तत्त्वज्ञान के लिये प्रयत्न करना कर्तव्य है, यह स्पष्ट करने के लिये कह रहे हैं **एनम् सुविरूढमूलम् अश्वत्थम् दृढेन असङ्गशस्त्रेण छित्त्वा**—सुदृढ़मूलवाले अर्थात् अत्यन्त जमी हुई मूलवाले इस संसाररूप अश्वत्थवृक्ष को असङ्ग [अर्थात् अहंता, ममता का (मैं और मेरापन का त्यागरूप) अर्थात् शरीरादि तथा बाह्यविषयों में पूर्णतया (आसक्ति-शून्यतारूप)] दृढ़ शस्त्र द्वारा (पूर्णरूप से वैराग्यवान् होकर आत्मा तथा अनात्म वस्तु के स्वरूप के भलीभाँति विचार द्वारा) छेदन करके अर्थात् अपने चैतन्यस्वरूप आत्मा से मायाजनित प्रपंच को पृथक् (अलग) करके **ततः**—उसके पश्चात् **तत्पदम्**—संसारवृक्ष के प्रधानमूलस्वरूप उस पारमार्थिक वस्तु वैष्णव पद का अन्वेषण (खोज) करना चाहिए। वह परमपद कैसा है, इसके उत्तर में कहा जा रहा है—**यस्मिन्गताः भूयः न निवर्तन्ति (निवर्तन्ते)**—जिसमें गये हुए (जिस पद को प्राप्त हुए) साधु पुरुष फिर नहीं लौटते। अब अन्वेषण करने का प्रकार क्या है, उसे बताते हैं—**यतः पुराणी प्रवृत्तिः प्रसृता**—जिससे यह पुरानी (चिरन्तन) अर्थात् अनादि-काल से चली आनेवाली संसार की प्रवृत्ति विस्तृत हुई है **तम् एव च आद्यम् पुरुषम् प्रपद्ये**—'उसी आदि पुरुष का मैं शरणागत हूँ', इसप्रकार एकान्तिक (अनन्य) भक्ति द्वारा उस परमपद का अन्वेषण करना चाहिए—यही कहने का तात्पर्य है।

(२) **शंकरानन्द**—यद्यपि जो पंडित लोग वेदों का अध्ययन कर चुके हैं एवं वेदान्त को जान लिये हैं वे भी अविद्या और काम के अधीन होकर वेद के प्ररोचक वाक्यों से मोहित होकर संसारवृक्ष के दृष्ट एवं अदृष्ट स्वर्गादि फलों में और उनके सुखों में रम्यत्व (रमणीयत्व) तथा नित्यत्व बुद्धि से दूसरों को भ्रम में डालते हुए स्वयं भी भ्रम में भटकते हैं तथापि यहाँ जो मुमुक्षु शुद्ध अन्तःकरण सम्पन्न, विचक्षण (चतुर) एवं सूक्ष्म बुद्धियुक्त है उसको 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते' ('इसलोक में

जैसे कृषि कर्मों से सम्पादित धान्य आदि लोक क्षीण हो जाता है'), 'श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्' ('हे अन्तक, यह जो मनुष्य के कल तक रहने वाले पदार्थ हैं') 'श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः' ('श्रेय और प्रेय दोनों मनुष्य को साधनरूप से प्राप्त हुए हैं') इत्यादि श्रुतियों से तथा 'इदं सर्वं मिथ्या, मायाकार्यत्वात्, इन्द्रजालवत्' ('यह सब मिथ्या है, माया का कार्य होने से, इन्द्रजाल के समान') इत्यादि युक्तियों से सद् और असद् का (आत्मा तथा अनात्म वस्तु के स्वरूप का) विचार करके उससे उत्पन्न हुए वैराग्यरूप खड्ग से (तलवार से) संसारवृक्ष का छेदन कर अर्थात् सब विषयों को त्याग कर मोक्ष के लिये यत्न करना चाहिए ऐसा समझा रहे हैं—

इह अस्य रूपं न तथा उपलभ्यते—यद्यपि पामर दृष्टि के अनुसार (अज्ञानाच्छन्न दृष्टि के अनुसार) उक्त रीति से संसारवृक्ष विशिष्ट पत्र, पुष्प, फल आदि से सम्पन्न होने के कारण रमणीय होने से वह आश्रय के योग्य प्रतीत होता है तथापि सूक्ष्म बुद्धि सम्पन्न पंडित को इस विषय में सम्यक् रूप से विचार करने पर 'स्वर्ग नित्य (ध्रुव) है, पृथ्वी ध्रुव है' तथा 'स्वर्गलोक में जो वास करते हैं वे अमृतत्वको भजते (प्राप्त होते) हैं' इत्यादि श्रुतियों में प्ररोचकपूर्ण वाक्यों के द्वारा स्वर्गादि लोकों के स्वरूप का जिसप्रकार नित्यत्व एवं सुखरूपत्व वर्णन किया गया है उसप्रकार (विचार दृष्टि से) उपलब्ध नहीं होता है। यदि शंका हो कि 'ध्रुव स्वर्ग है' इत्यादि वाक्यों से अन्तरिक्ष आदि का नित्यत्व श्रुति वाक्य से सुनने में आता है, फिर कैसे नित्यत्व उपलब्ध नहीं होता ? उत्तर—ऐसी शंका युक्त नहीं है, क्योंकि 'ध्रुवेण हविषेति' इस वाक्य शेष से क्षणस्थायी हवि का भी ध्रुवत्व सुनने में आता है। अतः उक्त न्याय से ध्रुवत्व औपचारिक है, ऐसा सूचित होता है। जिसका अवयव (आकार) है वह अनित्य है इत्यादि युक्ति के बल से तथा 'त्रयमप्येतत्सुषुप्तं स्वप्नं मायामात्रम्' ('तीनों ही यह सुषुप्त या स्वप्न के समान मायामात्र हैं') तथा 'यथा स्वप्नप्रपंचोऽयम्' ('जैसे स्वप्न प्रपंच है यह संसार भी ऐसे ही है') इत्यादि श्रुति तथा स्मृति वाक्यों से जो संसाररूप वृक्ष प्रत्यक्ष दिखाई देता है उसकी सत्ता स्वाप्निक विषय के समान अनियत है अर्थात् कभी दिखाई देता है और कभी नहीं दिखाई देता है। फिर वह ज्ञेय (दृश्य) है एवं जन्म तथा लय आदि से युक्त है। अतः उसका नित्यत्व एवं सुखरूपत्व

अप्रमाणित है। इससे यह सिद्ध होता है कि स्वर्गादि में नित्यत्व एवं नित्य सुखत्व केवल बुद्धि का भ्रम ही है। यदि ऐसा निश्चय हो कि संसारवृक्ष अनित्य एवं दुःखरूप है तो बादल की छाया के समान क्षणिक होने के कारण कुछ काल तक दुःख को सहन करके उसका नाश होने के पश्चात् सुख का भी तो भोग किया जा सकता है, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—**न अन्तः न च आदिः न च संप्रतिष्ठा**—इसका (निरन्तर जन्म-मरणरूप दुःख-प्रवाह से सर्वदा बहते हुए संसार का) आदि उपलब्ध नहीं होता है अर्थात् उसकी प्रवृत्ति इस समय से शुरू हुई, इसप्रकार आदिमत्त्व का निर्णय नहीं किया जाता है क्योंकि अविद्या और उसके कार्य की प्रवृत्ति अनादि है। इसका अन्त (समाप्ति) भी उपलब्ध (ज्ञात) नहीं होता है अर्थात् 'यह समाप्त हुआ' इस प्रकार उसकी समाप्ति भी जानने में नहीं आती। अतः इसकी प्रतिष्ठा (मध्यम-स्थिति) भी नहीं जानी जाती है। अब प्रश्न होगा कि यदि ऐसा ही हो तो जो मुमुक्षु सत्यासत्य का विवेक करने में समर्थ है उसको क्या करना चाहिए ? ऐसी आकांक्षा होने पर 'कल का कार्य आज करे' इस न्याय से सब कुछ छोड़कर मोक्ष के लिये प्रयत्न करना चाहिए, ऐसा बोधन करने के लिये कहते हैं—**दृढेन असङ्गशस्त्रेण**—अनेक जन्मों में सम्यक् प्रकार से आराधना करके जो बुद्धिमान् मुमुक्षु ईश्वर के प्रसाद को प्राप्त हुए हैं, उनको दृढ़ असङ्गरूप शस्त्र द्वारा [जिससे पुरुष को विषय में आसक्ति होती है उसे सङ्ग अर्थात् विषय सम्बन्धी राग कहते हैं। उसका अभाव असङ्ग अर्थात् विराग है। तीव्र मोक्ष की इच्छा से सद्-असद् (सत्य एवं मिथ्या) वस्तु के विवेकजनित विज्ञान से जो विषय के प्रति वैराग्य उत्पन्न होता है वही शस्त्र है अर्थात् असङ्ग या वैराग्य ही शस्त्र है]। बार-बार विषय में दोष-दर्शन करने पर एवं विषय का बन्धकत्व समझ जाने पर संसार के प्रति भय उत्पन्न होता है एवं मोक्ष की इच्छा भी तीव्र हो जाती है अतः उस संसार-भय से तथा तीव्र मोक्ष की इच्छा से एवं पुनः पुनः किये गये विवेक बल से असङ्गरूप (वैराग्यरूप) शस्त्र दृढ होता है।

उस समय दृढ़ असङ्ग शस्त्र से **एनम् सुविरूढमूलम् अश्वत्थम् छित्त्वा**—एरण्ड (रेड़ी) के तेल के सुन्दर लेप से जिस प्रकार उसका पात्र सभी ओर से लिप्त हो जाता है ऐसे सभी ओर से विरूढ़ (विशेष करके व्याप्त) हैं मूल (नाना प्रकार

वासना जाल) जिसके, वह सुविरूढ़ मूल है अर्थात् ब्रह्मा के करोड़ों कल्पों से अनुस्यूत-रूप से (अविच्छिन्न परम्पराक्रम से) चली आ रही नानाविध वासना के पटल से (वासना समूह से) जटिल अश्वत्थ के (संसार वृक्ष के) मूल छेदन कर (काटकर) अर्थात् पुत्रादि सम्पूर्ण एषणाओं से रहित होकर सर्व विश्वप्रपंचों का संन्यास (त्याग) करके। [इस प्रकार सद्-असद् के विवेक से उत्पन्न हुए वैराग्य तथा तीव्र मोक्ष की इच्छा के वेग से जो अन्तःकरण पहले बाह्यविषयों में बह रहा था, उसको प्रत्यगात्मा की ओर लगाकर केवल मोक्ष के लिये ही कामना रखने वाला यति आत्मज्ञान में ही तत्पर हो, ऐसा कहते हैं—] **ततः**—पुत्रादि सम्पूर्ण एषणाओं से रहित होकर सर्व विषयों का त्याग करने के पश्चात् 'संन्यस्य श्रवणं कुर्यात्' (संन्यास करके श्रवण करे) इस न्याय से सद्गुरु के समीप जाकर उनके उपदेशानुसार **तत्पदम् परिमार्गितव्यम्**—उस परम तत्व का अन्वेषण करना चाहिए अर्थात् श्रुति एवं युक्तियों से सम्यक्प्रकार से विचार करना चाहिए। अथवा षष्ठी के अर्थ में 'तसि' प्रत्यय के द्वारा 'ततः' शब्द सिद्ध हुआ है। अतः 'ततः' इत्यादि का अर्थ है—संसारवृक्ष का जो पद (प्रवृत्ति का मूल कारण परब्रह्म) है उसी को अन्वेषण करना (ढूँढ़ना) चाहिए। ब्रह्मविद् की सन्निधि में ब्रह्मतत्त्व को सम्यक्प्रकार से विचार कर जानना चाहिए, यही कहने का तात्पर्य है। ब्रह्मज्ञान का क्या फल है उसे कहते हैं-**यस्मिन्गताः न भूयः निवर्तन्ति**—परमेश्वर एवं आचार्य के प्रसाद से सम्पन्न यति (महात्मा) श्रवण और मननादि के द्वारा उत्पन्न हुए विज्ञान से जिस निर्विशेष, चिदेकरस ब्रह्म में गत (स्वात्मभाव को प्राप्त) हुए हैं अर्थात् ब्रह्म के साथ ऐक्यभाव को प्राप्त हुए हैं वे फिर संसार में जन्म लेने के लिये नहीं लौटते ['निवर्तन्ते' शब्द के स्थानपर 'निवर्तन्ति' शब्द आर्ष है]। सद् और असद् के विवेक एवं वैराग्य से तथा मोक्ष की इच्छा से सब विषयों का संन्यास (त्याग) कर ज्ञान की सिद्धि के लिये श्रवण, मनन आदि करने वाले यति को कैसा होना चाहिए उसे कहते हैं—**यतः पुराणी प्रवृत्तिः प्रसृता**—जिससे (जगत् के जन्मादि के हेतुभूत जिस ईश्वर से) पुराणी (चिरन्तन-अनादिकालीन) इस संसारवृक्ष की प्रवृत्ति प्रसृत (प्रकृष्ट रूप से फैली) हुई है अर्थात् सब प्रकार से प्राणियों की प्रवृत्ति निकलती है **तम् एव च आद्यम् पुरुषम् प्रपद्ये**—[यहाँ 'च' कार 'हि' के (निश्चय के)

अर्थ में है ।] जो इस संसारवृक्ष का बीजभूत 'पद' शब्द से कहा गया है उस आद्य की (सबके आदि में ही जो स्थित है उसकी) तथा माया से सृष्टि के लिये सगुणभाव को प्राप्त हुए भक्तवत्सल पुरुष (परमेश्वर) की ही शरण लेता हूँ । 'तं ह देवमात्मबुद्धि-प्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' (मैं मुमुक्षु आत्मबुद्धि के प्रकाशक उस परमात्मा की शरण लेता हूँ), इस श्रुतिवाक्य के अनुसार संसारबन्धन से मुक्त होने के लिये मैं परमेश्वर की शरण में जाता हूँ, इस प्रकार अनन्यभक्ति से ईश्वर की शरण लेकर मुमुक्षु को श्रवणादि करना कर्तव्य है—यही कहने का तात्पर्य है ।

(३) नारायणी टीका—पहले दो श्लोकों में संसारवृक्ष के जिस स्वरूप का वर्णन किया गया है वह रूप नहीं दिखाई देता है । [मायाविशिष्ट ब्रह्म या पुरुषोत्तम] जिसका ऊर्ध्वमूल (प्रधान कारण) है, माया से उत्पन्न हुए महत्तत्व, अहंकार, तन्मात्रा आदि शाखाएं नीचे विस्तृत हैं यह संसार-वृक्ष कल तक भी रहने वाला नहीं है अर्थात् क्षण-क्षण में नाशवान है इसलिये श्रुति-स्मृति इसे अश्वत्थ कहती है; वेदसमूह (काम्य कर्म प्रतिपादक वेद के वाक्य समूह) इसकी उत्तरोत्तर वृद्धि के हेतु होने के कारण इसके पर्ण (पत्ते) हैं, माया से उत्पन्न हुए महत्तत्व आदि कार्योपाधि विशिष्ट हिरण्यगर्भादि जीव समूह (जो इसके शाखास्थानीय हैं वे) ऊर्ध्व देवादि योनियों तक विस्तृत हैं तथा अधः पशु आदि योनियों तक भी फैले हुए हैं । यह संसाररूप अश्वत्थ वृक्ष सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणों से पुनः पुनः वृक्ष जैसे जल के सेचन से वृद्धि को प्राप्त होते हैं उसी प्रकार उत्तरोत्तर प्रकृष्ट रूप से वृद्धि को प्राप्त (स्थूलीकृत) होता है, शब्दादि विषय समूह जीवरूपी शाखा के अग्रस्थानीय इन्द्रिय वृत्ति के साथ संयुक्त होकर प्रवाल (कोपलें) हैं । प्रधानमूल के विना इस वृक्ष के राग-द्वेषादि युक्त वासनारूप असंख्य अवान्तर (छोटी-छोटी) मूल हैं ये शुभ और अशुभ वासनाएं ही मनुष्य को पाप-पुण्य में प्रवृत्त करके तत्-तत् कर्मों के फल भोगने के लिये जन्म-मृत्युरूप संसार में उत्तरोत्तर बद्ध कर देता है । इसलिये ये वासनारूप मूलें कर्मानुबन्धी हैं । मनुष्य का ही कर्म में अधिकार है अतः ये सब वासनारूप अवान्तर मूल समूह मनुष्य के अन्दर ऊर्ध्व (श्रेष्ठ ब्राह्मण आदि) से लेकर अधः (शूद्र अन्त्यज) तक अनुप्रविष्ट हैं अर्थात् सर्व श्रेणियों में ही सर्वकाल में व्याप्त हैं । यद्यपि इसप्रकार भगवान् ने संसारवृक्ष का वर्णन किया तथापि यह तात्त्विक दृष्टि से

नहीं कहा गया है। सिनेमा में वृक्षादि जो कुछ भी दृश्य दिखाई देता है उसके मूल, शाखा, पल्लव इत्यादि की जैसे वास्तविक कोई सत्ता नहीं है उसी प्रकार शुद्ध चैतन्यस्वरूप, अखण्ड, अद्वय ब्रह्म को अधिष्ठान कर माया (कल्पना) से रचित विश्वप्रपंचरूप संसार-वृक्ष की भी वास्तविक कोई सत्ता नहीं है। पहले इस वृक्ष का रूप वर्णन कर यह रूप जो केवल कल्पित एवं सत्ताहीन अर्थात् गंधर्वनगर या मरूमरीचिका के समान मिथ्या है इसे स्पष्ट करने के लिये ही भगवान् ने साथ-साथ कहा कि इसका रूप जैसा कहा गया है उस प्रकार संसार में स्थित किसी व्यक्ति के द्वारा उपलब्ध नहीं होता है क्योंकि जब तक अज्ञान के कारण जीव संसार में भटकता रहता है तब तक इस संसार वृक्ष के आदि मूल को नहीं जानने के कारण उस मूल से फैला हुआ चलच्चित्र के दृश्यवत् इस वृक्ष का यथार्थ रूप अर्थात् इसके मिथ्यात्व आदि नहीं जान सकता है यही श्लोक में 'इह' शब्द का तात्पर्य है। जिसकी सत्ता हा नहीं है उसका आदि, अन्त एवं संप्रतिष्ठा (स्थिति या मध्य अवस्था) कैसे रह सकती हैं। मरीचिका में देखा हुआ जल कितना गाढ़ा है, उसका स्वाद कैसा है, कब यह जल उत्पन्न हुआ एवं कब इसकी समाप्ति होगी, इस सम्बन्ध में जिस प्रकार हजारों विकल्प हो सकते हैं एवं सब विकल्प ही भ्रममात्र हैं क्योंकि इसका आरम्भ (आदि) कब हुआ एवं इसकी समाप्ति (अन्त) कब होगी एवं मध्य में इसकी क्या अवस्था है, यह जैसे निर्णय के योग्य नहीं है, उसीप्रकार सदा परिणामशील, क्षणस्थायी अश्वत्थ नामक संसार वृक्ष के आदि अन्त एवं मध्य के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा जायगा वह भ्रममात्र ही होगा। परन्तु सत्ताहीन या मिथ्या होने पर भी यह संसारवृक्ष सुविरूढ़मूल (अत्यन्त बद्ध मूल) है। जिस प्रकार रज्जु में सर्प की भ्रान्ति होने पर सर्प की कोई सत्ता नहीं रहने पर भी जब तक उसकी अधिष्ठानरूप रज्जु का बोध न हो तब तक 'यह सर्प है' इसप्रकार की बुद्धि ऐसे दृढ़भाव से जम जाती है कि हजारों युक्तियों से भी उस भ्रम का नाश नहीं किया जा सकता है, वरन् सर्प-भ्रान्ति रहने के कारण रज्जु के देखने के साथ-साथ ही भय, कम्पन इत्यादि सभी प्रकार के बहु विकार उत्पन्न होते रहते हैं, उसीप्रकार संसार की कोई वस्तु पारमार्थिक दृष्टि से नहीं होते हुए भी अज्ञानजनित भ्रम से दुःख, सुख, मोह, जरा, मृत्यु इत्यादि सभी का अनुभव होता रहता है। सहस्रबार सुनने से भी यह भ्रम नहीं मिटता है।

इसकारण से इस संसारवृक्ष को 'सुविरूढ़मूल' कहा गया है। सभी प्राणी नित्यानन्द एवं परमशान्ति चाहते हैं। अनित्य दुःखमय संसार में (गीता ९।३३) नित्यानन्द या परमशान्ति की प्यास कभी मिट नहीं सकती। अतः उस शाश्वत प्यास की निवृत्ति के लिये इस संसारवृक्ष का छेदन करना प्रत्येक विचारशील व्यक्ति का ही परम कर्तव्य है। सांसारिक विषय के प्रति जब तक ध्यान रहेगा तब तक उसके साथ सङ्ग (मैं—मेरापन) भी रहेगा एवं जब तक सङ्ग रहेगा तब तक चित्त राग-द्वेषादि वासना जाल में बद्ध रहेगा (गीता २।६२-६३) यह वासनाजाल ही संसारवृक्ष की उत्तरोत्तर वृद्धि के हेतुभूत अवान्तर मूल है, यह पहले ही कह चुके हैं। सर्व वासनाओं का छेदन करना और संसारवृक्ष का छेदन करना एक ही बात है। वासनाओं का मूल जब विषय-सङ्ग है तो विषय के साथ सङ्ग त्याग करना अर्थात् विषय का त्याग या असङ्ग (वैराग्य) ही एकमात्र शस्त्र है जिससे इस वृक्ष का छेदन संभव हो सकता है—अन्य कोई उपाय नहीं है। यह संसारवृक्ष जब अत्यन्त बद्धमूल (सुविरूढ़मूल) है तो वैराग्य भी अत्यन्त दृढ़ होने पर ही इसका छेदन करने में समर्थ होगा—अन्यथा नहीं। वैराग्य शब्द का अर्थ है विषय में वि—राग (विगत राग) अर्थात् अहंत्व एवं ममत्व शून्यत्व अर्थात् मैं और मेरेपन की शून्यता। फिर सांसारिक किसी भी प्रतिकूल घटना से सांसारिक विषय के प्रति सामयिक (क्षणिक) विरक्ति हो सकती है, परन्तु काल के प्रभाव से फिर अनादि अज्ञान के कारण विषय में रस उत्पन्न होता है परन्तु जब तक संसार के आदि मूल आत्मस्वरूप ब्रह्म में (परमात्मा में) वि—राग (विशेष राग अर्थात् उनके साथ मिलने की तीव्र इच्छा या संवेग) नहीं होता है तब तक ठीक-ठीक वैराग्य का उदय नहीं होता। इसलिये वैराग्य दो मुखवाले (दुमुही) सर्प के समान है। जब तक विषय में **विगतराग** एवं साथ ही साथ परमात्मा में **विशेष राग** न हो तब तक वैराग्य (असङ्ग) संसारवृक्ष को काटने के लिये योग्य नहीं होता है। इसलिये भगवान् ने कहा वह असङ्ग शस्त्र अर्थात् वैराग्यरूप शस्त्र दृढ़ होना चाहिए अर्थात् सांसारिक विषय का अनित्यत्व, दुःखत्व तथा मिथ्यात्व पुनः पुनः विचार कर विषय-भोगों से विरत होकर संसार का अधिष्ठान (आदिमूल) रूप नित्य सत्य, अखण्ड, अद्वय, सर्वभूतात्मा परमब्रह्म के स्वरूप का निरन्तर मनन करने पर ही असङ्ग (वैराग्यरूप) शस्त्र

तेजधार से युक्त (पैना) होकर दृढ़ हो जाता है एवं उससे इस संसारवृक्ष का छेदन करना सम्भव है। तात्पर्य यह है कि वैराग्य, शम, दमादि साधनों से सम्पन्न होकर सर्वकर्मों का त्याग एवं परमात्मा का निरन्तर चिन्तन करने पर ही संसारवृक्ष अवान्तर मूलों के (वासनाओं के) साथ उखड़ जाता है। अतः प्रत्येक मुमुक्षु को उक्त प्रकार के दृढ़ असंग-शस्त्र से संसार का प्रधान मूलरूप जो परमवैष्णवपद (परमब्रह्म) है उसका अन्वेषण करना चाहिए। [षष्ठि विभक्ति के अर्थ में 'तसि' प्रत्यय के योग से यहां 'ततः' शब्द निष्पन्न हुआ है अर्थात् 'ततः' शब्द का अर्थ है 'तस्य' (उस संसार वृक्ष का) क्योंकि 'ततः' का 'पश्चात्' अर्थ करने पर शंका होगी कि यदि संसारवृक्ष को दृढ़ असङ्गशस्त्र द्वारा कोई छेदन कर दे अर्थात् उसकी दृष्टि में यदि संसार लुप्त हो जाय तब तो आत्मारूप ब्रह्म स्वतः ही प्रकाशित होगा, अतः उसी अवस्था में उस परमब्रह्म के परिमार्गण (अनुसंधान) की क्या आवश्यकता है ? अतः 'ततः' शब्द का अर्थ तत्पश्चात् न कर 'संसार का' यह अर्थ करने पर समीचीन प्रतीत होता है। 'पद' शब्द का अर्थ है स्थान। स्थान उसी को कहते हैं जिसमें कि स्थिति होती है। अतः 'ततः पदम्' शब्द का अर्थ है संसार की स्थिति का स्थान। निरन्तर गतिशील संसार की स्थिति तभी हो सकती है जब यह नामरूप तथा क्रियात्मक विश्वप्रपंच उनके आदिमूल 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' में निमग्न हो जाते हैं (डूब जाते हैं), जिसप्रकार नदी की गति की समाप्ति तभी होती है जब वह समुद्र में लीन हो जाती है।] इसलिये संसार से मुक्ति प्राप्ति के लिये उस परम-वैष्णवपद का ही अनुसंधान करके (वेदान्तवाक्य का श्रवण कर उसका मनन करके) उस पद को प्रत्यक्ष रूप से जान लेना होगा। वह परमवैष्णवपद अर्थात् परमब्रह्म संसार के दृश्यों के समान चक्षु आदि इन्द्रियों से जाना नहीं जाता है। फिर वह संसार से सम्पूर्णरूप से विलक्षण है क्योंकि संसार अनित्य, मिथ्या, विकार तथा नाशवान् है और जिस परम पद को जानना ही श्रुति, स्मृति आदि सर्व शास्त्रों ने परमपुरुषार्थ माना है, वह नित्य, सत्य, अविकारी, अखण्ड एवं अव्यय (नाशरहित) है। अतः वृक्ष के प्रधान मूल का जिस प्रकार वृक्ष के साथ सम्बन्ध है उसी प्रकार प्रधान मूल स्वरूप यह परमपद संसारवृक्ष के साथ सम्बन्धित नहीं है। मरूभूमि जैसे मरीचिका का,

रज्जु जैसे भ्रान्त-सर्प का, सिनेमा का श्वेत वस्त्रखण्ड जिस प्रकार सिनेमा का मूलकारण (अधिष्ठान) है, ऐसे ही ब्रह्मस्वरूप वह परमपद संसार का मूल अर्थात् अधिष्ठान है, यही सूचित (स्पष्ट) करने के लिये भगवान् ने श्लोक में 'तत्' (वह) शब्द का प्रयोग किया है। संसार की सभी वस्तुएँ 'इदम्' रूप में (दृश्यरूप में) भासती हैं। ज्ञान-स्वरूप (द्रष्टा स्वरूप) वह परमपद (सर्वात्मा परमब्रह्म) सदा ही सर्वदृश्यों के अधिष्ठानरूप से अपने चिदानन्द स्वरूप में अवस्थित है—वह कभी दृश्य नहीं है। 'तत्' (वह) पद का यही तात्पर्य है। इस परमपद का अन्वेषण करने से क्या फल प्राप्त होता है ? इसके उत्तर में भगवान् कह रहे हैं—इस परमपद को ढूंढ़ते हुए इनमें गत होने पर अर्थात् इसको प्राप्त होने पर फिर संसार में लौटना नहीं पड़ता है अर्थात् पुनर्जन्म नहीं होता है। अब प्रश्न होगा कि यदि वह परमपद दृश्य-वस्तु नहीं है, तब जीव उसको कैसे प्राप्त हो सकता है ? क्योंकि किसी भी वस्तु की प्राप्ति करने के लिये प्राप्ति-कर्ता तथा प्राप्तव्य वस्तु एवं प्राप्ति का प्रयत्न, इन तीनों की ही आवश्यकता है। इसके उत्तर में कहा जायगा कि सांसारिक वस्तु की प्राप्ति के समान इस परमपद की प्राप्ति नहीं की जा सकती। परिच्छिन्न नदी को अनन्त समुद्र की प्राप्ति करने के लिये जिसप्रकार अपनी सत्ता को पूर्णतया लय करके समुद्र के साथ एक हो जाना पड़ता है उसी प्रकार इस अनन्त तथा पूर्ण परमपद की प्राप्ति करने के लिये प्राप्ति-कर्ता जीव को अपनी सत्ता का विलय कर उसके (परमपद—परमब्रह्म के) साथ एक हो जाना पड़ता है अर्थात् यहां 'गत' (प्राप्त) शब्द का अर्थ है 'वही हो जाना'। तभी संसार से (आत्मा को अनात्म संसार से) पृथक् कर तथा सर्वात्मा ब्रह्म की स्वरूपता की प्राप्ति करके संसार से मुक्त हो सकता है। यही 'गताः' शब्द का तात्पर्य है। प्रश्न होगा कि इसप्रकार ब्रह्मपद को प्राप्त करने का उपाय क्या है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—जिससे यह पुरानी (चिरन्तनी) प्रवृत्ति अर्थात् जो अनादि काल से प्रवाहित हो रही है ऐसी मायाजनित संसारप्रवृत्ति इन्द्रजाली की (बाजीगर की) माया के समान प्रसृत (विस्तृत अर्थात् फैली हुई) है। 'उस आदि पुरुष के ही मैं शरणापन्न हूँ' इसप्रकार अनन्य भक्ति से उनके शरणागत होने पर ही निरन्तर चिन्तन से निर्विकल्प समाधि द्वारा आत्मा का ब्रह्म के साथ एकत्व साक्षात् अनुभवकर जीव उनको प्राप्त करने में

समर्थ होता है अर्थात् ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है। यही संसार रूप सर्व पाप से मुक्त होने का एकमात्र उपाय है। गीता के अन्त में भी भगवान् कहेंगे—

'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' इत्यादि (१८।६६) श्रुति में भी कहा है–'तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' (मैं मुमुक्षु 'आत्मबुद्धि के प्रकाशक उस परमात्मा की शरण में जाता हूँ')। अतः एकमात्र परमेश्वर की शरण ही संसार के सर्वःदुख की निवृत्ति का तथा जिस परमानन्द की प्राप्ति के लिये जन्म जन्म के प्रवाह में जीव घूम रहा है, उसकी प्राप्ति का मुख्य उपाय यह श्रुति तथा स्मृति से सिद्ध हुआ है। [श्लोक में 'आद्य' शब्द का अर्थ है जो सबसे आदि (पहले) है, परन्तु जिसका कोई आदि नहीं है अर्थात् जो स्वयं अनादि है। मायाजनित संसार भी अनादि है परन्तु उसका अन्त है। किन्तु यह अनादि चैतन्यस्वरूप ब्रह्म अनन्त है क्योंकि यह पुरुष है अर्थात् सबकुछ दृश्यप्रपंच इससे पूर्ण है। जो पूर्ण है उसका अन्त (नाश) सम्भव नहीं है। इसीलिये कहा है–'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते' अर्थात् 'पूर्ण से पूर्ण निकाल देने पर भी पूर्ण ही शेष रहता है'। फिर यह सर्वपुर में (प्रत्येक प्राणी के शरीर में) शयन (सोया हुआ) है अर्थात् सर्वत्र एक ही रूप से विद्यमान है, इसलिये भी इसे पुरुष कहा जाता है इस प्रकार अनादि, अनन्त, पूर्ण तथा सर्वव्यापी जो पुरुष है (सर्वात्मा परमब्रह्म है) उस शुद्धचैतन्यस्वरूप की ही शरण लेना प्रत्येक मुमुक्षु का कर्तव्य है क्योंकि श्रुति में कहा है—'तं यथा यथोपासते स तथैव भवति' अर्थात् जो जिस प्रकार उपासना करता है वह वैसा ही हो जाता है अर्थात् जो जिसकी उपासना करता है वह उसी उपास्य की स्वरूपता को प्राप्त होता है–यही 'आद्यं पुरुषं प्रपद्ये' वाक्य से भगवान् ने सूचित किया। श्लोक में 'यतः प्रवृत्ति प्रसृता' इत्यादि से शंका हो सकती है कि निष्क्रिय, निर्विकार ब्रह्म से संसारवृक्ष की प्रवृत्ति कैसे विस्तार को प्राप्त हो सकती है ? अतः मायायुक्त ईश्वर जिससे सृष्टि, स्थिति, प्रलय की प्रवृत्ति हो रही है उसकी ही शरण लेने के लिये भगवान् ने कहा–सर्व प्रपंच-रहित निर्गुण, निष्क्रिय ब्रह्म की नहीं। इस प्रकार की शंका होने पर कहा जायगा कि जिस प्रकार अयस्कान्त मणि की (चुम्बक-लोहे के) सन्निधि में छोटे-छोटे लोहे के कण (टुकड़े) स्वतः ही प्रवृत्त होते हैं, उसी प्रकार शुद्धचैतन्यस्वरूप ब्रह्म या आत्मा के सान्निध्य में अनिर्वचनीया

माया-शक्ति स्वतः ही प्रवृत्त होकर संसाररूपी वृक्ष की अनन्त प्रवृत्ति का विस्तार करती है एवं उस माया के कार्य निष्क्रिय, निर्गुण ब्रह्म में आरोपित होने पर उसे सृष्टि, स्थिति, प्रलय का कर्ता अर्थात् सगुण ब्रह्म या ईश्वर कहा जाता है। जीवत्व, सांसारित्व, ईश्वरत्व तथा संसार की अनन्त प्रवृत्ति ये सभी ब्रह्म में कल्पित हैं अर्थात् मायिक हैं। यह श्रुति भी स्पष्टरूप से प्रतिपादित करती है—'मयि जीवत्वमीशत्वं कल्पितं वस्तुतो न हि। इति यस्तु विजानाति स मुक्तो नात्र संशयः।' अर्थात् मुझमें (परमब्रह्म में) जीवत्व, (ईश्वरत्व) कल्पित है, इनकी कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं है, यह जिसने निश्चितरूप से जान लिया वह मुक्त है, इस विषय में कोई संशय नहीं है। अतः जिसकी सन्निधि मात्र से मायाजनित संसारवृक्ष की चिरन्तन प्रवृत्ति चारों ओर विस्तार को प्राप्त हुई है उस आद्य (अनादि अनन्त एवं सबसे विलक्षण) पुरुष की पूर्ण, सर्वव्यापी, शुद्ध चैतन्य-स्वरूप सत्ता की मैं शरण हूँ। यही 'तमेव चाद्यं' इत्यादि वाक्य का अर्थ है।] गीता में प्रायः सर्वत्र ही सिद्धान्तरूप से अद्वैतवाद को ही प्रतिपादित किया है परन्तु इस अध्याय के तीसरे तथा चौथे श्लोक में अति स्पष्टतया इसबात को प्रतिष्ठित किया है। जिन द्वैतवादी विद्वानों ने सगुण ईश्वर की उपासना को ही वेद, उपनिषद आदि का चरम सिद्धान्त-रूप से निश्चित किया है तथा जीव-जगत् को नित्य ईश्वर के शरीर का अंश माना है, उनको भगवान् द्वारा उक्त इन दो श्लोकों के प्रति विशेष ध्यान देकर अपने सिद्धान्त की युक्तियुक्तता का विचार करना आवश्यक है। वे कहते हैं—'एकमेव ब्रह्म नानाभूतं चिदचित् प्रकारं नानात्वेनावस्थितम्' 'एकस्यैव ब्रह्मणः शरीरतया प्रकारभूतं सर्वं चेतना-चेतनात्मकं वस्तु' अर्थात् एक ही ब्रह्म चित्-अचित् (चेतन-अचेतन—स्थावरजङ्गम) नानाप्रकार के रूपों में अवस्थित है अर्थात् सब चेतन एवं अचेतनात्मक वस्तुएँ एक ही ईश्वर के शरीर रूप से नानाप्रकार से स्थित हैं। इस द्वैतमत के अनुसार शाखा-प्रशाखा सहित विस्तृत हुआ संसाररूप अश्वत्थ वृक्ष भी भगवान् की देह अवश्य ही माना जायगा। 'असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा' इस वाक्य द्वारा क्या भगवान् भक्त को अपने शरीर का छेदन करने के लिये कह रहे हैं ? और क्या भक्त भी भगवान् के शरीर का छेदन करने के लिये प्रयत्न करेगा ? दूसरी बात यह है कि यदि जीव एवं जगत् सत्य हो तो सत्य वस्तु को छेदन करना भी संभव नहीं है एवं प्रत्यक्ष विषयों में जब तक सत्यत्व

बुद्धि रहेगी एवं विषय के रस का भी प्रत्यक्ष रूप से अनुभव होता रहेगा तबतक किसी के लिये भी संसार के विषय के प्रति वैराग्यवान् होना संभव नहीं है क्योंकि अप्रत्यक्ष ब्रह्मानन्द के लिये प्रत्यक्ष-विषय सुख का त्याग करने में कोई भी जीव प्रवृत्त नहीं होगा। मरीचिका के जल के प्रति पिपासी (पिपासा से आर्त प्राणी) अवश्य ही धावित होगा किन्तु जब उसे यह निश्चय हो जायगा कि 'यह मिथ्या है' तब प्राण के नाश की संभावना होने पर ही वह उससे विरत (निवृत्त) ही रहेगा। उसीप्रकार जब तक जगत् का (संसारवृक्ष का) मिथ्यात्व दृढ़रूप से निश्चय न हो तब तक विषयों से विरक्ति या असङ्ग होना असंभव है। 'मैं जीवरूप से चिरन्तन (नित्य) हूँ' इसप्रकार की भावना जब तक रहेगी तब तक वह परमपद जिसकी कि प्राप्ति होने पर संसार में पुनरावर्तन (पुनर्जन्म) नहीं होता है, उसपद की प्राप्ति होना भी संभव नहीं है क्योंकि जीवकी स्वतन्त्र सत्ता रहते हुए ही यदि वह प्राप्त हो सके तब तो वह सांसारिक विषय के समान इदम् (यह) रूप से अर्थात् परिच्छिन्न दृश्यवस्तु के रूप से ही प्राप्त होगा। परिच्छिन्न दृश्य-वस्तुमात्र ही नाशवान् है, अतः उसकी प्राप्ति से अमृतत्व या संसार से मोक्ष कैसे प्राप्त हो सकता है? यदि कोई कहे कि ब्रह्मलोक, वैकुण्ठलोक, शिवलोक इत्यादि संसार से परे हैं तो भगवान् के वाक्य के साथ विरोध उत्पन्न हो जायगा क्योंकि भगवान् ने स्वयं ही कहा है कि 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन' इत्यादि (गीता ८।१६) अर्थात् ब्रह्म-लोकपर्यन्त सभी लोक पुनरावृत्तिशील हैं अर्थात् वे सभी लोक विनाशी हैं एवं उन लोकों के निवासियों का पुनर्जन्म होता है। किन्तु शुद्धचैतन्यस्वरूप मुझ परमब्रह्म को जो प्राप्त होता है उसका पुनर्जन्म नहीं होता है। वैकुण्ठलोक से भी पुनर्जन्म तथा अधोगति होती है इसका प्रमाण है जय-विजय। अतः गुरु तथा शास्त्र की कृपा से जगत् के मिथ्यात्व का दृढ़रूप से निश्चय करने के पश्चात् ही असङ्ग शस्त्र द्वारा (पूर्ण वैराग्य द्वारा) संसारवृक्ष का छेदन करना संभव है एवं जीवत्व एक अज्ञानजनित भ्रममात्र है, इस तत्त्व को भी पूर्णरूप से जानकर अपनी परिच्छिन्न जीव सत्ता को ज्ञानस्वरूप अनन्त ब्रह्मसत्ता में विलय कर ब्रह्मस्वरूपता प्राप्त करके ही संसार सागर को पार किया जा सकता है, यह स्पष्ट-रूप से भगवान् के वाक्य से सिद्ध होता है।

[असङ्गशस्त्र द्वारा संसारवृक्ष का छेदन कर सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप एवं अनन्त-

स्वरूप सर्वात्मा ब्रह्म (परमपद) की शरण लेने पर संसार में पुनरावर्तन नहीं होता है, यह पूर्व के दो श्लोकों में भगवान् ने कहा। किन्तु असङ्ग होने की एवं भगवत्शरण लेने की योग्यता शास्त्रोक्त साधन सम्पत्ति के बिना सम्भव नहीं होती है। उन साधन सम्पत्ति से सम्पन्न होने पर किस प्रकार के लक्षण समूह वैराग्यवान् शरणागत भक्त में देखे जाते हैं, इसे स्पष्ट करने के लिये भगवान् कहते हैं—]

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥

अन्वय—निर्मानमोहाः जितसङ्गदोषाः अध्यात्मनित्याः विनिवृत्तकामाः सुख-दुःखसंज्ञैः द्वन्द्वैः विमुक्ताः अमूढाः तत् अव्ययम् पदम् गच्छन्ति।

अनुवाद—जो मान (अभिमान अहंकार) और मोह (अविवेक) से रहित हैं, विषयसङ्गजनित राग द्वेषादि दोषों को जीते हुए हैं, अध्यात्मविचार में तत्पर हैं अर्थात् परमात्मस्वरूप को जानने के लिये वैराग्यपूर्वक सर्वकर्मों का त्याग कर श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन में निरन्तर निष्ठावान्, हैं तथा जिनकी विषय भोग की कामनाएँ विशेषभाव से निवृत्त (दूरीभूत) हुई हैं एवं जो सुख-दुःख नामक द्वंद्वों से विशेषरूप से मुक्त हुए हैं तथा जिनके वेदान्तप्रमाणजनित सम्यग्ज्ञान से मोह (अविद्याग्रन्थि अर्थात् आत्मा के स्वरूप सम्बन्धी अज्ञान) निवृत्त (नष्ट) हो चुका है, वे विद्वान् लोग ही उस अव्यय (अविनाशी) परमपद पर पहुँचते हैं (परमपद को प्राप्त करते हैं)।

भाष्यदीपिका—**निर्मानमोहाः**—जो मान (अहंकार या गर्व) एवं मोह (अविवेक या विपरीत ज्ञान अर्थात् अनात्म देहादि में अहंबुद्धि) से वर्जित हैं वे 'निर्मानमोह' है अर्थात् जिनसे अहंकार और अविवेक निकल गये हैं वे 'निर्मानमोह' कहलाते हैं **जितसङ्गदोषाः**—जागतिक विषय के साथ सङ्ग (आसक्ति) ही दोष है। अतः जिन्होंने आसक्तिरूपी दोष को जीत लिया है, वे 'जितसङ्गदोष' हैं [शत्रु तथा मित्र अर्थात् अप्रिय तथा प्रिय के साथ सङ्ग होने पर भी जिनके चित्त में द्वेष अथवा राग-रूपी दोष उत्पन्न नहीं होता है वे 'जितसङ्गदोष' हैं मधुसूदन)] **अध्यात्मनित्याः**—अध्यात्म में (परमात्मा के स्वरूप की आलोचना करने में) जो नित्यरत (सदातत्पर)

हैं वे 'अध्यात्मनित्य' कहलाते हैं **विनिवृत्तकामाः**—जिनकी समस्त कामनाएं (विषय भोग की वासनाएं) मूल अविद्या सहित निवृत्त (प्रशान्त) हो गई हैं [अथवा विवेक-वैराग्य के द्वारा समस्त काम (विषय-भोग) एवं कामों से उत्पन्न होने वाले समस्त कर्मों का जिन्होंने त्याग कर दिया है, वे 'विनिवृत्तकाम' हैं (मधुसूदन)]। **सुखदुःखसंज्ञैः द्वन्द्वैः विमुक्ताः**—[उक्त प्रकार से जो यति (संन्यासी) निर्मान मोह जितसङ्ग दोष इत्यादि हुए हैं वे] सुख दुःख नामक [सुख-दुःख के हेतु होने के कारण सुख-दुःख नाम वाले प्रिय और अप्रिय आदि (मधुसूदन)] द्वन्द्वों से विशेष रूप से मुक्त (छूटे) हुए हैं, वे **असूढाः**—मोहरहित [वेदान्त के प्रमाण से उत्पन्न हुए सम्यक् ज्ञान के द्वारा जिनका आत्मविषयक अज्ञान दूर हो गया है, ऐसे मोहशून्य] **तत् अव्ययम् पदम् गच्छन्ति**—उस पूर्ववर्णित अव्यय, अविनाशी अर्थात् देश-काल तथा वस्तु रूप समस्त परिच्छेद (सीमा) से रहित विष्णुपद (सर्वव्यापी परमात्मा की यथार्थ स्वरूपता) को (देहादिरूप सर्व उपाधियों से रहित होकर) प्राप्त होते हैं।

टिप्पणी (१) श्रीधर—पूर्वोक्त परमपद की प्राप्ति के लिये दूसरे साधन दिखाते हुए कहते हैं—**निर्मानमोहाः**—जिनसे मान (अहंकार) और मोह (मिथ्या अभिनिवेश) दूर हो गए हैं, **जितसङ्गदोषाः**—जिन्होंने पुत्रादि में आसक्तिरूप दोष को जीत लिया है **अध्यात्मनित्याः**—जो अध्यात्म में (आत्मज्ञान में) नित्य (पूर्ण रूप से) स्थित हैं **विनिवृत्तकामाः**—जिनका काम विशेषरूप से निवृत्त हो गया है, **सुखदुःखसंज्ञैः द्वन्द्वैः विमुक्ताः**—सुख दुःख के हेतु होने के कारण शीत-उष्ण आदि द्वन्द्व सुख-दुःख के नाम को धारण करने वाले हैं, उन द्वन्द्वों से जो मुक्त हो गए हैं एवं इसीलिये जो **अमूढाः**—अमूढ़ हैं अर्थात् जिनकी अविद्या से निवृत्ति हो गई है, ऐसे सर्वत्यागी महात्मा **तत् अव्ययम् पदम् गच्छन्ति**—उस अविनाशी वैष्णवपद (ब्रह्मपद) को प्राप्त होते हैं।

(२) **शंकरानन्द**—इसप्रकार अविद्या, काम और कर्मों से संसार चक्र में भ्रमण करते हुए ब्राह्मण मुमुक्षुओं ने यदि ईश्वर की कृपा से सत् एवं असत् के (आत्मवस्तु तथा अनात्मवस्तु के) विवेक-विज्ञान से सम्पन्न होकर उससे उत्पन्न हुए तीव्र वैराग्य से सम्पूर्ण कर्मों और उनके साधनों का त्याग किया है तो उनको वेदान्त

वाक्यों के श्रवणादि से उत्पन्न हुए ज्ञान से जगत् के कारण निर्विशेष ब्रह्म को अपने आत्मरूप से जानना चाहिए, ऐसा पूर्व श्लोकों में उपदेश देकर उन्हीं आत्मस्वरूप को जानने वाले यतियों को 'स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत' (गीता १५।१९) अर्थात् 'वह सर्वविद् पुरूष मुझको ही सर्वभाव से भजता है', भगवान् के इस आगे कहे जाने वाले वाक्य के अनुसार समुत्पन्न ज्ञान की और उसके फल की सिद्धि के प्रतिबन्धक स्वरूप अनात्मवस्तु के तथा उसके धर्म के अध्यास से रहित होने के लिये सर्वदा ब्रह्मदृष्टि से ही स्थित रहना चाहिए, ऐसा बोधन करने के लिये अब जो लक्षण वर्णित हो रहे हैं, उन लक्षणों से युक्त समस्त यति विदेह-मुक्ति को प्राप्त होते हैं, ऐसा श्रीभगवान् कहते हैं—

निर्मानमोहाः—मान (अभिमान अर्थात् 'देह-इन्द्रियादि मैं हूँ', इसप्रकार का अभिनिवेषरूप अहंकार) और उसका कारणमोह (अज्ञान अर्थात् आत्मा के आवरणरूप अनात्मदेहादि में आत्मबुद्धिका जो हेतु है अज्ञान) इन दोनों से (मान एवं मोह से) जो स्वरूप के ज्ञान द्वारा तथा आत्मा में ही आत्मभाव की प्राप्ति के द्वारा जो उन मान और मोह से निकल गये हैं वे 'निर्मानमोह' हैं अर्थात् वेदान्त-वाक्यों के श्रवणादि से 'यह ब्रह्म ही मैं हूँ' इसप्रकार के विज्ञान से और आत्मा में ही आत्म-बुद्धि की व्यवस्था से अनात्म देहादि में अहंभाव से रहित (मान एवं मोह से रहित) पुरुषको 'निर्मानमोह' कहते हैं।

अध्यात्मनित्याः—'अध्यात्म' शब्द का अर्थ है सर्वत्र ब्रह्ममात्र दर्शनरूप आत्मज्ञान। उसमें ही जो नित्य (निरन्तर) निरत होकर आत्माराम हो गया है वही 'अध्यात्मनित्य' है अर्थात् 'यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ' इसप्रकार अपने में और सब में ब्रह्म प्रत्यय दृढ़ करने के लिये निरन्तर ब्रह्मनिष्ठा में ही स्थित हुए पुरूष को 'अध्यात्म-नित्य कहा जाता है। इसीलिये **विनिवृत्तकामाः**—जिनसे विषय की अभिलाषा होती है वे काम (वासना) हैं। वासना से ही प्रत्येक प्राणी विषयों को चाहता है, इसलिये वासनाओं का नाम काम है। निरन्तर ब्रह्म में स्थिति के कारण जिनके अन्तःकरण काम या वाह्य वासनायें विशेषरूप से निवृत्त हो गई हैं वे 'विनिवृत्तकाम' हैं अर्थात् निरन्तर समाधिनिष्ठा से देहादि में जिसकी अहं आदि बुद्धिजनित समस्त वासनाग्रन्थियाँ

पूर्णरूप से दग्ध हो गई हैं, इसप्रकारका विद्वान् 'विनिवृत्तकाम' कहलाता है। अब सम्पूर्णकाम या वासना के नाश का फल कहते हैं—**जितसंगदोषाः**—इन्द्रियों का तथा मन का विषय के साथ जो संयोग होता है वह सङ्ग है। वही काम, संकल्प आदि दोषों का हेतु होने के कारण दोष कहलाता है। अर्थात् विषय का सङ्ग ही दोष है। विषय के ध्यान, श्रवण, दर्शनादि से चित्त का तथा इन्द्रियों का विषय के साथ संसर्ग हाने पर काम, संकल्प आदि दोष उत्पन्न होते हैं। उसके पश्चात् आत्मा में भोक्ता, भोग आदि का अध्यास होता है, अध्यास से कर्म में प्रवृत्ति होती है एवं उसके पश्चात् प्रत्यगात्मा के दर्शन का विच्छेद हो जाता है। तदनन्तर द्वितीय अध्याय में कहे गये 'ध्यायतो विषयान् पुंसः' (गीता २।६२–६३) इत्यादि वाक्यों से अनर्थ की परम्परा की प्राप्ति होती है। यह अनर्थ की परम्परा जिससे न हो उसके लिये जिन्होंने विषय के साथ सङ्गरूप दोष को जीतलिया (त्याग दिया) है अर्थात् जो बहिर्मुखवृत्ति से रहित है वे 'जितसङ्गदोष' हैं। विद्वान् सदा आत्मज्ञान में रत रहने पर स्वतः ही 'निर्मानमोह' होता है एवं निर्मानमोह होने पर विनिवृत्तकाम भी होता है, विनिवृत्तकाम होने पर जितसङ्गदोष होता है। इसीलिये **सुखदुःखसंज्ञैः द्वन्द्वैः विमुक्ताः**—सुख तथा दुःख की संज्ञा (सम्यक् अर्थात् भलीभांति ज्ञान) जिनसे उत्पन्न होता है उन शीत-उष्ण, प्रिय, अप्रिय, शत्रु-मित्र आदि द्वन्दों को 'सुखदुःखसंज्ञ' कहा जाता है। इन द्वन्द्वों से जो विशेषरूप से मुक्त हुए हैं (छूटे हुए हैं) अर्थात् जो गुणातीत हैं वे सुख-दुःखसंज्ञरूप द्वन्द्वों से विमुक्त हैं। इस प्रकार के लक्षणों से युक्त होने पर वे **अमूढाः**—अज्ञानरूपी मोह से रहित होते हैं। 'मैं, मेरा' इसप्रकार भेद प्रत्ययवाले पुरूष मूढ़ हैं और उनसे विलक्षण अर्थात् भेद-प्रत्ययरहित पुरूष 'अमूढ़' हैं अर्थात् जिनकी अविद्या की निःशेष निवृत्ति हो गई है एवं 'अमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः' ('अमौन तथा मौन की भी समाप्ति करके पीछे ब्राह्मण कृतार्थ होता है') इस श्रुतिवाक्य में उक्त लक्षणों से सम्पन्न होकर जो ब्रह्मविद् हो गये हैं, वे 'अमूढ़' हैं। इसप्रकार के सभी लक्षणों से युक्त यति (संन्यासी) **तत् अव्ययम् पदम् गच्छन्ति**—जिसका किसी से भी व्यय (नाश) नहीं होता वह अव्यय है। श्रुति भी कहती है 'नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययम्' (नित्य, विभु, सर्वगत, बहुत ही सूक्ष्म, ऐसे अव्यय को)।

अव्यय शब्द से निर्विशेष ब्रह्म के बिना दूसरे का व्यय (नाश) सूचित किया है। अतः मुमुक्षु को निर्विशेष परमब्रह्म को ही जानना होगा, स्मरण करना होगा एवं कथन करना होगा—ऐसा स्पष्ट कहा गया है। जो सम्पूर्ण वेदान्त में प्रसिद्ध हैं एवं जिसके प्राप्त हो जाने के पश्चात् मुमुक्षु पुरुष फिर संसार में लौटते नहीं है उस अव्यय शाश्वत, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव सत्-चित् आनन्दैकरस, अद्वितीय पद (परमब्रह्म) को प्राप्त होते हैं अर्थात् उपाधि के नाश के साथ ही साथ आभासरूप परिच्छेद (सीमित अवस्था अर्थात् जीवत्व) का परित्याग कर पूर्णत्व को प्राप्त होते हैं—यही कहने का अभिप्राय है।

(३) **नारायणी टीका**-पूर्व श्लोक में भगवान् ने कहा कि जिस परमपद को प्राप्त होकर फिर संसार में लौटना नहीं पड़ता है एवं जिससे संसारवृक्ष की चिरन्तन प्रवृत्ति हो रही है उस शाश्वत अव्यय पुरुष के अन्वेषण करने का अर्थात् जानने का एकमात्र उपाय है—उसकी शरण लेना उसकी शरण लेने के पश्चात् उसके साथ एकत्व का अनुभव कर तत्स्वरूपता को प्राप्त होने के पूर्वतक शरणागत भक्त में क्या-क्या विशेष लक्षण स्वतः ही प्रकट होते रहते हैं, इसे स्पष्ट कर रहे हैं—

ईश्वरार्पणबुद्धि से शास्त्रविहित कर्मानुष्ठान द्वारा जिसकी चित्तशुद्धि नहीं हुई है उसके हृदय में परमात्मविषयक जिज्ञासा नहीं उत्पन्न होती है। अतः उसके लिये निष्कपट भाव से भगवान् की शरण लेना भी असंभव है। इसलिये चित्तशुद्धि के पश्चात् जब जिज्ञासु गुरुमुख से वेदान्तवाक्यादि का श्रवण तथा मनन कर लेता है तब **परोक्षभाव** से जान लेता है कि जो शुद्ध चैतन्यस्वरूप सत्ता देहादि को सर्वदा जानती है वही आत्मा है अर्थात् वही मैं हूँ और देहादि दृश्य होने के कारण अनात्मा है अर्थात् आत्मा से भिन्न है। इसलिये मुमुक्षु होकर जो भगवान् की शरण लेता है, उसकी एकमात्र परमब्रह्म ही सत्यवस्तु है एवं उसके बिना और सब स्वप्न दृश्यवत् कल्पित या मिथ्या हैं, ऐसा निश्चय होने के कारण देह-इन्द्रियादि में 'यह मैं हूँ' इस प्रकार जो **मान** था अर्थात् अभिनिवेशरूप जो अहंकार था वह नष्ट हो जाता है एवं उसके कारण जो **मोह** (अविवेक) था अर्थात् अनात्म से आत्मवस्तु को पृथक् करने के विचार करने की असामर्थ्य थी, वह भी नष्ट हो जाती है। इसलिये वे निर्मानमोह (निरहंकार तथा विवेक विचार से

सम्पन्न) होते हैं। देहादि में आत्म-बुद्धि रहने पर ही देहादि का प्रयोजन सिद्ध करने के लिये विययों के साथ सङ्ग (विषयासक्ति) होता है। विषय स्वयं किसी के बन्धन का कारण नहीं होता है। विषय के साथ सङ्ग (विषयासक्ति) ही किस प्रकार से सर्व अनर्थों का हेतु होता है, यह भगवान् ने पहले ही (गीता २।६२-६३) स्पष्ट किया है। यह विषयसङ्ग ही दोष है। अतः उक्त प्रकार से निर्मानमोह होने पर अर्थात् देहादि में ममताशून्य होने पर (विषय में मिथ्यात्व-बुद्धि का निश्चय होने पर) मुमुक्षु विद्वान् स्वतः ही विषय-वैराग्य से सम्पन्न होकर समस्त सङ्गरूप दोषों को जीत लेता है। फिर 'ब्रह्म ही एकमात्र सत्य वस्तु है' इस प्रकार की बुद्धि श्रवण, मननादि से सम्यक् प्रकार से उत्पन्न होने के कारण अनात्मवस्तु में मैं और मेरापन का त्याग कर 'यह सब और मैं ब्रह्ममात्र ही है' इस प्रकार अध्यात्म में (आत्मज्ञान में) नित्य (निरन्तर) स्थित होकर आत्माराम होने का अभ्यास करते हैं अर्थात् 'अध्यात्मनित्य' होते हैं। पूर्ण आत्मस्वरूप ब्रह्म में जिनकी निष्ठा होती है उनके लिये आत्मा से अतिरिक्त दूसरी वस्तु की सत्ता का अभाव रहने के कारण समस्त काम (वासनाएँ) विशेषरूप से (पूर्णतया) निवृत्त होती हैं, इसलिये वे 'विनिवृत्तकाम' होते हैं। काम या वासना ही सुख-दुःख का कारण होता है। इच्छित वस्तु की प्राप्ति से सुख एवं उसकी अप्राप्ति में दुःख होता है। इस प्रकार शीत-उष्ण, निन्दा-स्तुति, प्रिय-अप्रिय, शत्रु-मित्र इत्यादि द्वन्द्वों के (वासनाओं के) अनुकूल या प्रतिकूल होने पर ही सुख-दुःख की संज्ञा अर्थात् सम्यक् (भलीभांति) ज्ञान होता है। इसलिये इन सब द्वन्द्वों को सुख-दुःख संज्ञ कहते हैं। अतः जो विनिवृत्तकाम हो गये हैं अर्थात् जिनकी सर्व वासनायें विनष्ट हो चुकी हैं वे सुख-दुःख संज्ञ रूप सर्वद्वन्द्वों से विशेषरूप से मुक्त हो जाते हैं एवं इन सब लक्षणों से विशिष्ट विद्वान् में मूढ़ता (अर्थात् अज्ञान) का लेशमात्र भी रहना असम्भव है। अतः सर्व अनर्थों का मूल जो अज्ञान है वह अखण्ड, अद्वय, निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप आत्मा के साक्षात् अनुभव द्वारा नष्ट हो जाता है अर्थात् वे 'अमूढ़' हो जाते हैं। इस प्रकार मे मूल अज्ञान के नष्ट हो जाने पर जिस अव्यय (अविनाशी) ब्रह्मपद (ब्रह्मस्वरूप परमशान्ति के स्थान) की प्राप्ति होने पर और गति नहीं होती है [क्योंकि श्रुति कहती है 'स काण्ठा सा परा गतिः' (क० उ०)] उसको प्राप्त कर लेगा अर्थात् सोमित

जीवत्व का त्याग करके पूर्णत्व प्राप्त कर लेगा इसमें आश्चर्य की बात क्या है ? इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि ब्रह्मपद का अन्वेषण करते हुए संसारदुःख से क्लिष्ट हुए जीव जब सर्वात्मा भगवान् परमब्रह्म की शरण लेते हैं तो निर्मानमोह, जितसङ्गदोष इत्यादि लक्षण एक के बाद दूसरा स्वतः ही शरणागत भक्तों में प्रकट होता है एवं अन्त में उनको विनाश-रहित ब्रह्मपद में पहुँचा देता है।

[जिस पद का परिमार्गण (अन्वेषण) करना होगा एवं अन्त में जिसको प्राप्त होने पर संसारवृक्ष अज्ञान के साथ उखड़ जाता है, उस परम पद की विशिष्टता का प्रतिपादन करते हैं—]

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

अन्वय—यत् गत्वा न निवर्तन्ते सूर्यः तत् न भासयते, (तथा) शशाङ्कः न (भासयते) तथा पावकः न (भासयते) । तत् मम परमं धाम ।

अनुवाद—जहाँ जाकर मेरे शरणागत हुए योगी भक्त फिर संसार में नहीं लौटते, उसपद को न तो सूर्य प्रकाशित करता है, न चन्द्रमा प्रकाशित करता है और न अग्नि। वही मेरा परम (श्रेष्ठ और स्वयंप्रकाश) पद है।

भाष्यदीपिका—यत्—जिस वैष्णव पद (परमात्मा) में **गत्वा न निवर्तन्ते**—योगी लोग जाकर अर्थात् प्राप्त होकर (उसके साथ एकत्व का अनुभवकर) संसार में फिर नहीं लौटते (पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होते) **सूर्यः तत् न भासयते**—सूर्य (आदित्य) सबको प्रकाशित करने की शक्ति वाला होने पर भी उस तेजोमय (स्वयंप्रकाश) परम पद को प्रकाशित नहीं कर सकता **(तथा) शशाङ्कः न (भासयते)**—ऐसे ही चन्द्रमा भी उस पद को प्रकाशित करने में समर्थ नहीं होता है **न पावकः (भासयते)**—अग्नि भी उसे प्रकाशित नहीं कर सकती **तत् मम परमं धाम**—वही मुझ विष्णु का परमधाम (परमपद या स्वरूप) है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—उपर्युक्त प्राप्तव्य पद का विशेषभाव से वर्णन करते हैं—**न तत् भासयते सूर्यः इत्यादि**—जिस पद को सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्नि

आदि कोई भी प्रकाशित नहीं कर सकता **यत् गत्वा न निवर्तन्ते**—जिसको प्राप्त होकर योगी लोग संसार में नहीं लौटते **तत् धाम परमं मम**—वह मेरा परमधाम अर्थात् स्वरूप है। कहने का अभिप्राय यह है कि वह परमधाम (परम पद या स्वरूप) सूर्यादि के प्रकाश का विषय नहीं है। इस कथन से उस पद में जड़ता तथा शीत-उष्णादि के दोष का प्रसंग दूर किया गया है।

(२) **शंकरानन्द**—यदि शंका हो कि ब्रह्मा, विष्णु आदि के लोकों को प्राप्त हुए जीव जैसे संसार में लौटते हैं (गीता ८।१६) उसी प्रकार निर्विशेष परमब्रह्म को प्राप्त हुए जीवों की भी यदि संसार में पुनरावृत्ति होती है तो कहा जायगा कि इसप्रकार कहना युक्त नहीं हैं क्योंकि श्रुति में कहा गया है—'न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते' ('वह फिर नहीं लौटता, वह फिर नहीं लौटता')। वेदोक्त दहर ब्रह्म की उपासना कर सगुण ब्रह्म के उपासक भी क्रम से मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं। जब उनकी भी पुनरावृत्ति का आभास सुनने में नहीं आता है तब सर्वोपाधि का विलय कर साक्षात् निर्विशेष, सच्चिदानन्दैकरस, परम ब्रह्म को स्वात्मरूप से (अपनी आत्मा के रूप से) जो ब्रह्मविद् यति प्राप्त हुए हैं, उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती, इसमें तो कहना ही क्या है ? इस अर्थ का बोधन करने के लिये जिस ब्रह्म का धाम या परमपद अन्त में प्राप्त होता है, वह सूर्यादि से भास्य (प्रकाशित होने वाला) नहीं है क्योंकि वह स्वयं ज्योतिस्वरूप (स्वयंप्रकाश) हैं और वही पद उसका (ब्रह्म का) अपना स्वरूप भी है इसे स्पष्टतया समझाने के लिये कहते है—**तत् सूर्यः न भासयते**—मुक्त पुरुष जिस पद को प्राप्त होने में योग्य हैं एवं जिसके सम्बन्ध में पूर्व में कहा गया है, उस धाम को (परमज्योतिस्वरूप पद को अर्थात् परमब्रह्म को) सबको प्रकाशित करने की शक्ति से सम्पन्न होने पर भी हजारों किरणों वाला सूर्य भी जिसे प्रकाशित नहीं कर सकता अर्थात् सूर्य की भी उसको प्रकाशित करने की सामर्थ्य नहीं है क्योंकि श्रुति में कहा है-'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः' (न वहां सूर्य भासता है, न चन्द्रमा और न तारे भासते हैं, न बिजली भासती है, कहां से यह अग्नि भासेगा) **न शशाङ्कः न पावकः (भासयते)**-शशाङ्क (चन्द्र) भी उसे प्रकाशित नहीं करता तथा अग्नि भी उसे प्रकाशित नहीं करता यह शशाङ्क तथा पावक (अग्नि) इन्द्रियां

तथा मन का भी उपलक्षण हैं अर्थात् चक्षु आदि और मन भी ब्रह्मपद को प्रकाशित करने में समर्थ नहीं हैं, ऐसा सूचित किया गया है क्योंकि श्रुति कहती है—'न तत्र चक्षुर्गच्छति,' 'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैः' (वहाँ नेत्र नहीं जाते, न चक्षु से ग्रहण किया जाता है, न वाणी से ही, न अन्य देवताओं से अर्थात् अन्य देवताओं से अधिष्ठित इन्द्रियों से) इससे यह सिद्ध होता है कि बाह्य भौतिक सूर्यादि तथा चक्षु आदि का एवं आन्तर बुद्धि का भास्य (प्रकाश्य) न होने के कारण ब्रह्म भौतिक वस्तु नहीं है—वह अतिसूक्ष्मतम, सबका आन्तर, अन्य किसी वस्तु से प्रकाशित होने के अयोग्य, सर्वप्रकाशक, अदृश्य, अजड़ (चेतन), अप्रमेय (सब प्रमाणों के बहिर्भूत) निरवयव (देहादिशून्य), निष्क्रिय, निर्विकार तथा नित्यशुद्ध है। श्रुतियाँ भी ऐसा ही प्रतिपादन करती हैं—'न सन्नासन्न सदसत्' (न सत् , न असत और न सत्-असत्') 'तस्मात्तमः संजायते' (इससे तम उत्पन्न होता है) 'सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरम्' (सूक्ष्म से सूक्ष्मतर) 'एष त आत्मा सर्वान्तरः' (यह तेरा आत्मा सबके भीतर), 'न तत्र सूर्यो भाति' (न वहाँ सूर्य भासता है) 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (उसके प्रकाश से यह सब भासता है), 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः' (यहाँ यह पुरुष स्वयंज्योति), 'स्वप्रकाशानन्दघनम्' (स्वयं स्वप्रकाश आनन्दघन), 'अदृश्यमव्यवहार्यम्' (अदृश्य अव्यवहार्य), 'साक्षी चेता केवलः' (साक्षी चेता केवल), 'अप्रमेयम् ध्रुवम्' (अप्रमेय ध्रुव), 'निष्कलं निष्क्रियम्' (निष्कल निष्क्रिय) 'चिद्रूप एवाविकारो ह्युपलब्धा' (चिद्रूप ही अविकार ही उपलब्धा), 'नित्यं शुद्धं बुद्धं मुक्तं सत्यं सूक्ष्मं परिपूर्णमद्वयं सदानन्दचिन्मात्रम्' नित्य, (शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य, सूक्ष्म, परिपूर्ण, अद्वय, सदानन्द, चिन्मात्र)। इसप्रकार परमज्योतिः स्वरूप ब्रह्म के सूर्यादि से प्रकाश्य न होने के कारण अभौतिकत्व आदि स्वरूप के लक्षण सूचित करके जिसका उपक्रम किया था उस परमपदका प्रतिपादन करते हैं—**यत् गत्वा न निवर्तन्ते**- पूर्वोक्त निर्मानमोहत्वादि मुक्तों के लक्षणों से लक्षित महात्मा यति जिस अभौतिकत्व आदि लक्षणों वाले धाम (परम ज्योतिःस्वरूप परमब्रह्म) के पद को (भाव को) प्राप्त होकर संसार में लौटते नहीं हैं अर्थात् पुनः 'मैं–मेरा' रूप संसार के लिये नहीं लौटते हैं, आदित्यादि जिसको प्रकाशित नहीं कर सकते, जिसके भाव को प्राप्त हुए पुरुषों की पुनरावृत्ति (पुनर्जन्म) नहीं होती है, जो अपूर्व, अनपर, (जिससे विपरीत और

कोई नहीं है,), अपर (जिसके अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं हैं,) अनन्तर (जिसमें अन्तर या अवकाश नहीं है अर्थात् जो सर्वत्र पूर्ण है), अबाह्य (जिससे बाहर कोई वस्तु नहीं है) और जो अखण्डानन्दैकरस, अद्वितीय है, **तत् धाम परमं मम**–वह मेरा परम धाम है अर्थात् परमज्योतिः स्वरूप मेरा (विष्णु का) अपना मायारहित स्वरूप है। यदि शंका हो कि—'सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामहे' (हे सौम्य ! यह सम्पूर्ण प्रजा सत् से आकर नहीं जानती कि हम सत् से आई हैं) इस श्रुति वचन से सत् से सम्पन्न व्यक्तियों की भी (ब्रह्मस्वरूप आत्मा में गये हुए व्यक्तियों की भी) पुनरावृत्ति सुनने में आती है। अतः 'जिसको प्राप्त होकर नहीं लौटते हैं' इत्यादि से सत्सम्पन्नों की पुनरावृत्ति नहीं होती, ऐसा प्रतिपादित कैसे किया जाता है ?

उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं है। यद्यपि श्रुति 'सत् से सम्पन्नों की भी पुनरावृत्ति होती है' ऐसा कहती है तथापि इसमें जो विशेष है उसे हम कहते हैं—'प्रयतो वाङ् मनसि संपद्यते, मनः प्राणे, प्राणस्तेजसि, तेजः परस्यां देवतायाम्' [मरने वाले की वाणी मन में लीन हो जाती है और मन प्राण में, प्राण तेज में तथा तेज पर देवता में (ब्रह्मस्वरूप आत्मा में) लीन होता है], इस प्रकार श्रुति वाक्य से विद्या और अविद्या दोनों की सत् सम्पत्ति समान होने पर भी अविद्वान् पुरुष अविद्या, काम, कर्मादि संसार के बीज से विशिष्ट रहने से सत् को प्राप्त होकर भी (संसार के हेतु अविद्या आदि के विद्यमान होने के कारण उनके वेग से) सत् से फिर उत्क्रमण करता है एवं लौट आता है। इस विषय पर श्रुति ऐसा कहती है—'तेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' (इससे यह आत्मा निकलता है, चक्षु से, मूर्धा से या अन्य शरीर के देशों से; निष्क्रान्त उस आत्मा के पीछे प्राण निकलता है, प्राण के निकलने पर सब इन्द्रियाँ निकलती हैं), 'सविज्ञानो भवति स विज्ञानमेवान्वक्रामति तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च' (वह विज्ञानयुक्त होता है, वह विज्ञान के साथ ही अनुत्क्रमण करता है, विद्या और कर्म उसके साथ जाते हैं और पूर्वप्रज्ञा भी), 'अविद्यां गमयित्वान्यं नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते' 'पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा

प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वान्येषां वा भूतानाम्' (अविद्या को प्राप्त होकर अन्य नवीन कल्याणतर रूप धारण करता है, पितरों का, गन्धर्वों का, देवताओं का, प्रजापति का, ब्रह्मा का, या अन्यभूतों का), 'तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य' (जिसमें इसका मन निश्चय रूप से आसक्त होता है, आसक्त हुआ वह कर्मसहित उसको प्राप्त होता है), 'कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र' (जो कामों को श्रेष्ठ मानकर चाहता है, वह कामों से वहां वहां जन्म लेता है), 'पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' (पुण्यकर्म से पुण्य होता है, पाप से पाप)। और स्मृति भी कहती है—'नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म' (भोग के बिना कर्म का क्षय नहीं होता)। इससे सिद्ध होता है कि अविद्या, कामादि वाले अनात्मज्ञ पुरुष अविद्या-कामादि के बल से अवशिष्ट कर्मों के फल भोगने के लिये सत् को (परमब्रह्मस्वरूप आत्मा को) प्राप्त होकर भी फिर लौटते हैं [जैसे कि सुषुप्ति से मनुष्य जाग्रत्-अवस्था में लौटते हैं अर्थात् सुषुप्ति में भी मन, बुद्धि का आत्मा में लय होने पर सुप्त पुरुष आत्मा के साथ एक हो जाता है किन्तु अज्ञानरूपी बीज रहने के कारण वह जागरण में लौट कर आता है,] किन्तु उसी प्रकार ब्रह्मवित्तम यति नहीं लौटता है क्योंकि उसके (सद्ब्रह्म के) साथ एकत्व का विशेष ज्ञान (विज्ञान) होने के कारण उस विज्ञानरूपी अग्नि से अविद्या, कामादि जल जाते हैं एवं उससे सर्वोपाधि का विलय हो जाने पर निर्विशेष, नित्यशुद्ध परमब्रह्म को प्राप्त होने पर अर्थात् ब्रह्मस्वरूपता को प्राप्त होने पर व्युत्थान के हेतु जो अज्ञान है उसके अभाव से उस ब्रह्मविद के लिये ब्रह्मस्वरूप से स्थिति के बिना पुनः उत्क्रमण (लौट आना) संभव नहीं होता है, जैसे कि अविद्याग्रस्त पुरुष का होता है। श्रुति भी इसी सिद्धान्त को स्पष्ट करती है—'गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति' (गुहा-ग्रन्थियों से विमुक्त होकर अमृत होता है), 'योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामः' (जो अकाम, निष्काम, आप्तकाम), 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माऽप्येति' (उसके प्राण नहीं निकलते, ब्रह्म ही होकर ब्रह्म को प्राप्त होता है) 'पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः' (पर्याप्तकाम, कृतात्मा के यहीं सम्पूर्ण काम लीन हो जाते हैं), इससे तथा 'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' [जैसे नदियाँ बहती

हुई नाम रूप को छोड़कर समुद्र में अस्त हो जाती हैं उसी प्रकार विद्वान् नामरूप से विमुक्त होकर पर से ही पर (परम्) दिव्य पुरुष को अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त होता है]। इससे सिद्ध होता है कि कूटस्थ होने से आत्मा का जाना और आना युक्त नहीं है। घटरूप उपाधि से युक्त होकर घटाकाश भिन्न-भिन्न प्रतीत होने पर भी वह महाकाश स्वरूप ही है क्योंकि घट के नष्ट होने पर घटाकाश की अपने स्वरूप महाकाशभाव से स्थिति के बिना फिर घट में लौट के आना सम्भव नही है। इसी प्रकार अविद्यारूप उपाधि से सत् ब्रह्मस्वरूप आत्मा की भिन्न-भिन्न रूपों से प्रतीति होने पर भी उक्त रीति से अविद्या तथा उसके कार्य का नाश होने पर स्वरूप से (ब्रह्मात्मस्वरूप से) स्थिति के बिना पुनरावृत्ति नही हो सकती क्योंकि वह कूटस्थ होने के कारण क्रिया का आश्रय नहीं हो सकता। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि सम्यग् दर्शन से और ब्रह्मनिष्ठा से जब अविद्या आदि का नाश हो जाता है तब सर्व उपाधि का विलय होने पर निर्विशेष, नित्य, शुद्ध ब्रह्मभाव को प्राप्त हुए महात्मा की पुनरावृत्ति नहीं होती है।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्व ३-४ श्लोकों में जिस परमब्रह्मपद का उल्लेख किया गया है एवं जिसकी (जिस स्वरूपता की) प्राप्ति न होने पर जीव कृतकृत्य नहीं हो सकता है तथा संसारगति से मुक्त नहीं होता है, उस परमपद की विशेषता का प्रतिपादन श्रीभगवान् फिर से कर रहे हैं—जिस सर्वात्मा, परमब्रह्मरूप परमपद पर योगी लोग जाकर (तादात्म्यभाव को प्राप्त कर) संसार में पुनः जन्म ग्रहण नहीं करते हैं अर्थात् जिसप्रकार जल के भीतर प्रतिबिम्बरूपी सूर्य जल शुष्क हो जाने पर बिम्बरूपी यथार्थरूप सूर्य में लीन होकर उसके साथ एक हो जाता है एवं फिर जल में लौट कर नहीं आता है, उसीप्रकार तत्त्वज्ञानी पुरुष अविद्याजनित सर्व उपाधि से रहित होकर उस परमपद (ब्रह्मस्वरूपता) को प्राप्त होने के पश्चात् फिर संसार में नहीं लौटते है। वह परमपद अपने स्वरूप का ज्ञान होने पर ही स्वयं प्रकाशित होता है क्योंकि वह स्वयं प्रकाश है एवं सर्वभूतात्मा (चिदात्मा) है। वह प्राकृतिक किसी वस्तु से प्रकाशित नहीं हो सकता क्योंकि वह प्रकृति या माया से परे है। इसलिये सूर्य सभी पदार्थों को प्रकाशित करने में समर्थ होने पर भी उसको प्रकाशित नहीं कर सकता। अब शंका होगी कि सूर्यास्त होने पर रात्रि में वस्तुओं को चन्द्रमा प्रकाशित करता है तो क्या

वह चन्द्रमा (शशाङ्क) उसको प्रकाशित नहीं कर सकता है ? इस पर कहते हैं कि नहीं, चन्द्रमा भी उसको प्रकाशित करने में असमर्थ है। फिर शंका होगी कि सूर्य व चन्द्रमा दोनों के अस्त हो जाने पर अग्नि वस्तुओं को प्रकाशित करती है, अतः क्या अग्नि उसे प्रकाशित नहीं कर सकती ? इस पर कहते हैं कि अग्नि भी उसे प्रकाशित नहीं करती। सूर्यादि से उपलक्षणरूप से इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि को भी ग्रहण किया गया है अर्थात् इन्द्रियां मन बुद्धि आदि भी उस पद को प्रकाशित करने में असमर्थ हैं [यहाँ श्लोक में शशाङ्क और पावक इन दोनों ही पदों के साथ 'भासयते' क्रिया का सम्बन्ध है। 'शशः' (खरगोश) जिसमें अंकित है, इसप्रकार अर्थ में चन्द्रमा को शशाङ्क कहा जाता है। सर्वान् पावनान् (पवित्रम्) करोति इति पावकः' अर्थात् अग्नि में जो कुछ डाला जाता है वह अग्नि से पवित्र हो जाता है, इसलिये अग्नि का नाम पावक है।] सूर्यादि की उस पद को प्रकाशित करने में असमर्थता क्यों है ? इस पर कहते हैं—वह परमपद मेरा (सर्वव्यापी विष्णु का अर्थात् सर्वव्यापी परमात्मा का) परमधाम अर्थात् परम (सर्वोत्कृष्ट) तेजरूप (सर्वप्रकाशक) धाम (स्वरूप) है। वह सर्वोत्कृष्ट पद इस लिये है कि जब तक जीव उस धाम में (अपने स्वरूप में) नहीं पहुँचेगा तब तक उसका संसार में आवागमन रहेगा। अब शंका होगी कि क्या भगवान् से उसका धाम अलग है ? 'मम धाम' पद से तो द्वैतवाद की ही प्रतिष्ठा होती है इस पर कहा जायगा कि—नहीं, जैसे राहु सिर अभिन्न होने पर भी 'राहु का सिर' कहा जाता है उसी प्रकार से (सर्वभूतात्मा परमब्रह्म) और मेरा धाम (स्वरूप) सदा ही अभिन्न हैं। अतः 'मम धाम' पद से अद्वैतहानि की कोई संभावना नहीं है, यही भगवान् के कहने का तात्पर्य है।

ब्रह्मस्वरूप परमपद स्वयंप्रकाश है अर्थात् अन्य द्वारा भास्य (प्रकाश्य) नहीं है वरन् सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि समस्त जड़ ज्योतिर्मय पदार्थों का अवभासक (प्रकाशक) है, इसलिये इसको परम (सर्वश्रेष्ठ) पद कहा जाता है। भास्य (प्रकाश्य) वस्तु उसके भासक को (प्रकाशक को) प्रकाशित नहीं कर सकती इसलिये कहा गया है कि सूर्यादि उस परमपद को प्रकाशित नहीं कर सकते। श्रुति भी ऐसा ही कहती है।

"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं।
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः॥
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं।
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ इति॥"

अर्थात् "वहाँ न तो सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्रमा और न तारे ही प्रकाशित होते हैं और न बिजलियां ही चमकती हैं, फिर यह अग्नि तो प्रकाशित हो ही कैसे सकती है? वह प्रकाशित रहने पर ही ये सब प्रकाशित होते हैं और उसी के प्रकाश से यह सारा प्रपंच प्रकाशित हो रहा है।" अब प्रश्न होगा कि वह पद वेद्य (जानने योग्य) है या नहीं। यदि वह वेद्य माना जाय तो वेत्ता (जानने वाला) उससे पृथक् होने के कारण द्वैत की प्राप्ति होगी और यदि माना जाय कि वह वेद्य (जानने योग्य) नहीं है तो उस पद का अन्वेषण करना तथा उसकी प्राप्ति के लिये साधन करना वृथा होगा। इन दोनों शंकाओं का निराकरण करने के लिये पहले ही कह चुके हैं कि यह परमपद आत्मा का स्वरूप होने के कारण पृथक् रूप से वेद्य नहीं है क्योंकि वह अपरोक्ष अनुभवस्वरूप है। इसलिये श्रुति कहती है, 'साक्षादपरोक्षं ब्रह्म विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' अर्थात् यह ब्रह्मस्वरूप आत्मा साक्षात् अपरोक्ष है, जो सब वस्तुओं का विज्ञाता है वह किससे जाना जा सकता है? अतः ब्रह्म की वेद्यता से सूर्यादि की प्रकाश करने में असमर्थता ही बता दी गई है एवं ब्रह्म की साक्षात् अपरोक्षता (स्वयं प्रकाशत्व) सबकी भासकता के द्वारा अर्थात् 'ब्रह्म सब का भासक है' यह कहकर 'यदादित्यगतं तेजः' (१५।१२) इस श्लोक में बतायेंगे। सारांश यह है कि ब्रह्मस्वरूप परमपद को ब्रह्म होकर ही जाना जाता है वेत्ता-वेद्यरूप (ज्ञाता-ज्ञेय रूप) से नहीं। चैतन्य स्वरूप आत्मा सर्व-उपाधि (दृश्यों के) विलय होने पर स्वयं अपने को आप ही जानता है अर्थात् यह आत्मस्वरूप ब्रह्मपद स्वसंवेद्य है क्योंकि वह चैतन्यस्वरूप होने के कारण उसका स्वभाव ही है जानना। इसलिये श्रुति कहती है—

'न वा अरे विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते, अविनाशित्वात्' (बृ०उ०)।

मन, बुद्धि आदि के लय होने पर सभी जीव ब्रह्मात्मा में लीन होते हैं किन्तु

जैसे सुषुप्ति में आत्मा के साथ एकीभूत होने पर भी जीव जागरण में लौट आते हैं उसीप्रकार परमात्मा के परमधाम में पहुँचने पर भी संसार में आवर्तन की (लौटने की) संभावना तो है ही ? इस प्रकार की शंकाका संक्षेप में उत्तर यही है कि घट का नाश होने पर जिसप्रकार घटाकाश महाकाश ही हो जाता है एवं वहाँ से नष्ट हुए घट में फिर नहीं लौटता है, उसीप्रकार देहादि समस्त उपाधि की निवृत्ति होने पर तथा जीव के अपने निरुपाधिकरूप को प्राप्त होने पर फिर संसार में लौटना संभव नहीं होता है। सुषुप्ति में जीव के उपाधिभूत सभी संस्कार सूक्ष्मरूप से अपने कारण अज्ञान में रहते हैं। अतः उस अज्ञान से ही उसका पुनः जागरण में लौट आना संभव है किन्तु जब ज्ञान से अज्ञान नष्ट हो जाता है तो कारण के नष्ट हो जाने पर कार्य का उदय कैसे हो सकता है ? क्योंकि अन्तःकरण आदि उपाधियों का उदय तो अज्ञान से ही होता है। इसीलिये पूर्वश्लोकोक्त निर्मानमोहत्वादि से सम्पन्न होकर आत्मस्वरूप ब्रह्म के धाम में पहुँचने पर अर्थात् 'मैं ब्रह्म ही हूँ', इसप्रकार साक्षात् अनुभव करने पर अज्ञान के कार्यभूत संसार की निवृत्ति हो जाने से 'नहीं लौटते' ऐसा कहने में किसी विरोध की संभावना नहीं है। [आनन्दगिरि, मधुसूदन सरस्वती तथा शंकरानन्दी टीकाओं का भी यही तात्पर्य है।]

[उस परमधाम को प्राप्त कर संसार में पुनरागमन नहीं होता है, ऐसा कहा गया है। अब उसमें जो कारण है वह बताते हैं—]

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥ ७ ॥

अन्वय—जीवलोके (यः) जीवभूतः (सः) मम एव सनातनः अंशः, (सः) प्रकृतिस्थानि मनःषष्ठानीन्द्रियाणि कर्षति।

अनुवाद—जीवलोक में (संसार में) संसारीरूप से प्रसिद्ध जो जीव है वह (अविद्या से अपने को कर्ता, भोक्ता इत्यादि मानकर जीवभाव को प्राप्त होने पर भी) सनातन (नित्य) है क्योंकि वह मुझ परमात्मा का ही अंश है। तथापि जब तक अविद्या के वशीभूत होकर अपने को संसारी मानता है तबतक यह जीव निद्रा और

प्रलयकाल में प्रकृति में लय होकर स्थित हुई इन्द्रियों को (मन जिनमें षष्ठ छठाँ) है उन इन्द्रियों को) पुनः जीवलोक में (संसार में) भोग के लिये आकर्षित करता है।

भाष्यदीपिका—जीवलोके-जीवों के लोक में अर्थात् संसार में **(यः) जीवभूतः**-जो जीवरूप से भोक्ता, कर्ता इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है **(सः) मम एव सनातनः अंशः**-वह मुझ परमात्मा का ही सनातन (नित्य) अंश है। ('अंश', अङ्ग, भाग, एकदेश ये सब पर्यायवाचक शब्द हैं।)

जैसे जल में प्रतीत होने वाला सूर्य का प्रतिबिम्ब जलरूप निमित्त का नाश होने पर सूर्य को ही प्राप्त होकर फिर नहीं लौटता, ऐसे ही उस परमात्मा का यह अंश भी उसी परमात्मा में ही लीन होकर फिर नहीं लौटता अथवा जैसे घटादि उपाधि से परिच्छिन्न घट आदि का आकाश महाकाश का ही अंश है और वह घट आदि निमित्त के नाश होने पर आकाश को ही प्राप्त होकर फिर नहीं लौटता ऐसे ही उपाधि से परिच्छिन्न जीव चैतन्य समस्त उपाधि से रहित होकर शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा को प्राप्त होकर फिर संसार में नहीं लौटता है, ऐसा कहना उचित ही है।

पूर्व पक्ष—अवयव-रहित परमात्मा का अंश अथवा एकदेश कैसे हो सकता है? और यदि उसको अवयवयुक्त (सावयव) मानें तो अवयव का विभाग (अंश) होने से परमात्मा के नाश का प्रसङ्ग आ जायगा।

उत्तर पक्ष—यह दोष नहीं है क्योंकि घटादि उपाधि से परिच्छिन्न होकर घटाकाश जिसप्रकार महाकाश के अंशरूप से कल्पित होता है उसीप्रकार देहादि से परिच्छिन्न जीव-चेतन्य भी सर्वव्यापी, अद्वितीय, अखण्ड, चेतन्यस्वरूप परमात्मा के अंशरूप से कल्पित होता है। कल्पित वस्तु मिथ्या है, अतः 'अंश' शब्द द्वारा वास्तविक अंश को सूचित नहीं किया गया है केवल उपाधियोग से अज्ञानी की दृष्टि में जीव परमात्मा के 'अंश के समान' है, ऐसा अर्थ श्रीभगवान् ने बोधित किया है अर्थात् अविद्याकृत उपाधि से परिच्छिन्न जीव को परमात्मा का एकदेश या अंश के समान माना गया है। यह बात त्रयोदश अध्याय (क्षेत्र-अध्याय) में विस्तारपूर्वक प्रतिपादित हुई है। [मधुसूदन सरस्वती ने श्लोक के प्रथम पद की इस प्रकार व्याख्या की है—जिसप्रकार सूर्य का जल में और आकाश का घड़े में मिथ्या अंश रहता है,

उसीप्रकार मुझ निरंश परमात्मा का भी जीवलोक अर्थात् संसार में माया से कल्पित अंश के समान मिथ्या भेदवाला अंश है। वही प्राणधारणरूप उपाधि के कारण जीव-स्वरूप है तथा 'कर्ता, भोक्ता, संसारी' इस प्रकार मिथ्या ही प्रसिद्ध हो रहा है। उपाधि का परिच्छेद रहने पर भी वस्तुतः परमात्मस्वरूप होने के कारण यह सनातन नित्य है अतः ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर अपने स्वरूपभूत ब्रह्म को प्राप्त होकर वह इससे नहीं लौटता—यह कहना उचित ही है।]

परमात्मा के अंशरूप से कल्पित जीव यद्यपि परमात्मस्वरूप ही है तथापि वह संसार में कैसे आता है तथा कैसे शरीर का त्याग करके जाता है, सो बतलाते हैं—**मनःषष्ठानि इन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति**—मन जिनमें छठाँ है ऐसी कर्ण-छिद्रादि अपने-अपने गोलकरूप प्रकृतियों में (स्थानों में) स्थित हुई श्रोत्र (कर्ण), चक्षु, नासिका, रसना, त्वचा इन पाँच इन्द्रियों को (अर्थात् इन पाँच इन्द्रियों तथा षष्ठस्थानीय मन को) जीव आकर्षित करता है।

[शरीर को छोड़कर जिस प्रकार जीव जाता है एवं फिर संसार में आता है, उसी प्रकार जीव प्रतिदिन जाग्रत, स्वप्न को छोड़कर सुषुप्ति में जाता है एवं फिर सुषुप्ति अवस्था से जागरण में लौट आता है।] सुषुप्ति अवस्था से कैसे लौट आता है, उसकी व्याख्या करते हुए श्लोक के द्वितीय पद का अर्थ मधुसूदन सरस्वती ने इसप्रकार किया—यह जीव मन जिनमें छठा है उन श्रोत्र, चक्षु, रसना, घ्राण और त्वचा नामक पाँच इन्द्रियों को [इन्द्र अर्थात् आत्मा के विषय की उपलब्धि का साधन होने से श्रोत्रादि आत्मा के लिंग (चिह्न) हैं। इसलिए इनको 'इन्द्रिय' कहा जाता है। ये इन्द्रियाँ मनसहित जाग्रत तथा स्वप्न के भोगजनित कर्म का क्षय हो जाने पर प्रकृतिस्थ (प्रकृति अर्थात् अज्ञान में सूक्ष्मरूप से स्थित) रहती हैं किन्तु जाग्रत अवस्था के भोग के उत्पन्न करने वाले कर्म के उदय होने पर फिर उन इन्द्रियों को] जीव भोग के लिये खींच लेता है। कछुआ जिसप्रकार अपने अङ्गों को आकर्षित कर (सिकोड़) लेता है उसी प्रकार यह जीव उन इन्द्रियों को प्रकृति (अज्ञान) से खींच लेता है अर्थात् जिससे वे मन तथा इन्द्रियाँ विषयग्रहण में योग्य हों उसी प्रकार उनको प्रकट (अभिव्यक्त) कर देता है। [अतः भाव यह है कि ज्ञान से अनावृत्ति (संसार से मुक्ति) होती है किन्तु अज्ञान रहने तक पुनरावृत्ति (पुनर्जन्म) होना युक्ति-विरुद्ध नहीं है।]

टिप्पणी (१) श्रीधर—यदि तुम्हारे (परमात्मा के) धाम को प्राप्त हुए पुरुष संसार में नहीं लौटते तो 'सति सम्पद्य न विदुः', 'सति सम्पद्यामहे' (सत्स्वरूप परमात्मा में लीन होकर वे दूसरा कुछ नहीं जानते, हम सत्स्वरूप परमात्मा में अभिन्नरूप से स्थित हो रहे हैं) । इत्यादि श्रुति से यह ज्ञात होता है कि निद्रा और प्रलयकाल में सभी को अपने स्वरूप की (परमात्मा की) प्राप्ति होती है फिर संसारी नाम वाला कौन रहा ? ऐसी शंका करके संसारी कौन है, यह 'ममैव' इत्यादि पाँच श्लोकों द्वारा स्पष्ट करते हैं—**मम एव अंशः**—मेरा ही अंश जा यह **जीवभूतः सनातनः**—(अविद्या के सम्बन्ध से) जीव होता है तथा सनातन (अर्थात् सर्वदा) संसारीरूप से प्रसिद्ध है वह **मनःषष्ठानि इन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि**—प्रकृति में स्थित (लीन) हुई इन्द्रियों को मन जिनमें छठा है उन पंचज्ञानेन्द्रियों को पुनः **जीवलोके**—जीवलोक में **कर्षति**—आकर्षित करता है 'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि' शब्द से पंचकर्मेन्द्रिय का तथा प्राण का भी उपलक्षण करके ग्रहण किया गया है । इसका भाव इस प्रकार है—यह ठीक है कि सुषुप्ति और प्रलयकाल में भी मेरे अंश होने के कारण समस्त जीवमात्र का मुझमें लय होने पर मेरी प्राप्ति होती ही है तथापि अविद्या द्वारा आवृत्त होकर वासनायुक्त जीव प्रकृति (माया या मूल अज्ञान) युक्त मुझ में लय होता है किन्तु मेरे शुद्धचैतन्यस्वरूप में नहीं । यह पहले 'अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्ति' (गीता ८।१८) इत्यादि श्लोकों द्वारा कहा गया है । इसलिए फिर संसार में आता हुआ अज्ञानी (अविद्वान्) प्रकृति में (अव्यक्त में) लीन होकर स्थित हुई अपनी उपाधिरूप इन्द्रियों को विषय भोग करने के लिये आकर्षित करता है । विद्वान् तो शुद्ध (प्रकृनि या माया से रहित अर्थात् अव्यक्त से परे) ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त होते हैं, अतः उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती अर्थात् उनको संसार में लौटना नहीं पड़ता ।

(२) शंकरानन्द—अष्टम श्लोक की शंकरानन्दी टीका द्रष्टव्य ।

(३) नारायणी टीका—अष्टम श्लोक की नारायणी टीका देखिये ।

किस समय जीव प्रकृति में लीन हुए इन्द्रिय तथा मन आदि को आकर्षित करता है, सो बतलाया जाता है—[अथवा उनको आकर्षित करके क्या करता है ? उसे बताते हैं—]

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥

अन्वय—ईश्वरः यत् (यदा) उत्क्रामति (तदा कर्षति) यत् च (यदा च) अपि शरीरम् अवाप्नोति, तदा वायुः आशयात् गन्धान् इव एतानि गृहीत्वा संयाति ।

अनुवाद—जिस समय ईश्वर (देह एवं इन्द्रियों का स्वामी जीव) एक शरीर में से उत्क्रमण करता है (अर्थात् शरीर का त्याग कर देता है) उस समय वह मनसहित इन्द्रिय आदि को आकर्षित करता है (खींचता है) । केवल इतना ही नहीं परन्तु जिस देह को प्राप्त करता है उसमें वायु जैसे गन्ध को ले जाता है, उसी प्रकार इन इन्द्रियों को ले भी जाता है ।

भाष्यदीपिका—**ईश्वरः**—देह और इन्द्रियादि के संघात का स्वामी जीव **यत् (यदा) च अपि**—जिस समय **उत्क्रामति**—उत्क्रमण करता है अर्थात् शरीर को छोड़कर जाता है **तदा कर्षति**—तब इनको (मनसहित इन्द्रियों को) आकर्षित करता है । [पूर्व श्लोक की संगति के लिये इस श्लोक के दूसरे पद की व्याख्या पहले की गई है ।] तथा **यत् च अपि शरीरम् अवाप्नोति**—जब यह जीवात्मा पहले शरीर का त्यागकर दूसरे शरीर को प्राप्त करता है **एतानि**—तब मन जिनमें छठा है उन इन्द्रियों को **गृहीत्वा संयाति**—साथ लेकर सम्यक् प्रकार से जिससे पूर्व शरीर में पुनः आगमन नहीं हो इस प्रकार से जाता भी है । दूसरे शरीर में उन मन सहित इन्द्रियों को कैसे लेकर जाता है ? सो बतलाते हैं—**वायुः गन्धान् इव आशयात्**—जैसे वायु गन्ध के आशय से (स्थानों से अर्थात् पुष्पादि से) गन्ध को [गन्ध के सूक्ष्म अंश को (मधुसूदन)] लेकर जाता है—ऐसे ही यह जीव भी जाता है ।

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—जीव उन मनसहित इन्द्रियों को आकर्षित करके क्या करता है, इसे कहते हैं **ईश्वरः यत शरीरम् अवाप्नोति**—देहादि का स्वामी यह जीव जब-जब कर्मों के वश होकर दूसरे शरीर को प्राप्त होता है **यत च अपि उत्क्रामति**—और जिस शरीर का त्याग करके उत्क्रमण करता है अर्थात् चला जाता है **तदा एतानि गृहीत्वा**—तब-तब पहले शरीर से इन मन सहित इन्द्रियों को

ग्रहण करके **संयाति**—दूसरे शरीर ये सम्यक् प्रकार से (भलीभांति) चला जाता है। पूर्व शरीर में स्थित मन तथा इन्द्रियों को कैसे ग्रहण करता है, उसे दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं—

वायुः गन्धान् इव आशयात्—अपने स्थान से (पुष्पादि से) गन्ध को (गन्ध-युक्त सूक्ष्म अंश को) लेकर जिसप्रकार वायु जाती है, उसीप्रकार जीव भी एक देह से दूसरी देह में जाता है।

(२) **शंकरानन्द**—पूर्वोक्त प्रकार से संसारवृक्ष के स्वरूप को जानकर जो यति सत्-असत् वस्तु विषय में विवेक सम्पन्न होकर वैराग्यवान् हुआ है वह केवल मोक्ष की कामना से समस्त कर्मों का त्याग करके सद्गुरु के प्रसाद से उत्पन्न हुए ज्ञान से ब्रह्म को प्राप्त होता है। अतः श्रीभगवान् ने उनकी संसार में अपुनरावृत्ति का प्रतिपादन करके (पुनर्जन्म का निषेध करके) अब जिन्होंने वेदान्त वाक्यादि का श्रवण नहीं किया हैं ऐसे यतियों को अनात्मा में (देहादि में) आत्मत्वभ्रमविशेष की निवृत्ति के लिये ब्रह्म ही अविद्यारूप उपाधि से जीव-भाव को प्राप्त होता है, ऐसा बोधन करने के लिये जीव ब्रह्म का अंश है, आत्मा देह-इन्द्रियादि से भिन्न है, अविकारी है तथा असंसारी है ऐसा प्रतिपादन आगे के तीन श्लोकों से करते हैं—

(७–८ श्लोक) **मम एव अंशः जीवलोके**–मुझ निर्विशेष चिदैकरस ब्रह्मका ही अंश के समान एक अंश (अविद्या से कल्पित भाव) जीवलोक में (संसार, में) अथवा 'जीवेन लोक्यत अनुभूयत इति जीवलोकः' [जीव से जो देखा जाता है (जिसका अनुभव होता है) वह जीवलोक है अर्थात् क्षेत्र उसमें] **जीवभूतः**–नाम और रूप का प्रकट करने के लिये क्षेत्रज्ञत्व को प्राप्त हुआ है अर्थात् प्रमाता होकर स्थित है **शंका**–निरवयव, निर्विशेष परमब्रह्म का अंश जीव है ऐसा कहकर ब्रह्म में अंशांशिभाव की कल्पना करना युक्त नहीं है क्योंकि यदि ब्रह्म का अंश माना जाय तो 'ब्रह्म सावयव, अनित्य एव द्वैतविशिष्ट हो जायेगा तथा 'निष्कलं, निष्क्रियं, एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुति वाक्यों से विरोध होगा।

उत्तर—यदि तुम्हारी ऐसी शंका हो तो तुमसे यह प्रश्न होगा कि तुम्हारे मत में ब्रह्म से अन्य कोई जीव है अथवा ब्रह्म ही जीव है अथवा जीव है

ही नहीं। तीसरा पक्ष (जीव है ही नहीं यह पक्ष) तो युक्त नहीं है क्योंकि तब तो तुम्हारे ही अर्थात् 'यह मैं हूँ' इसप्रकार मानकर सामने जो बैठे हो उसके अभाव का प्रसङ्ग होगा। यदि कहो कि इसप्रकार अभाव तो मेरी इष्टापत्ति (इष्ट की अर्थात् इच्छित उद्देश्य की प्राप्ति) ही है, तो कहूँगा कि यह भी युक्त नहीं है क्योंकि यह प्रत्यक्ष से विरोध है अर्थात् तुम सामने बैठे हुए कैसे कह सकते हो कि तुम हो ही नहीं ? प्रथम पक्ष अर्थात् ब्रह्म से अन्य कोई जीव है अथवा ब्रह्म ही जीव है इस पक्ष में तुमको हम पूछेंगे कि वह जीव सचेतन है या अचेतन। जीव अचेतन नहीं हो सकता क्योंकि 'मैं, मेरा' इस प्रकार तुम्हारे ही ज्ञान के अभाव का प्रसङ्ग आयगा एवं सुषुप्ति अवस्था में जैसा होता है उसी प्रकार सदा-सर्वत्र व्यवहार के लोप का प्रसङ्ग होगा। और यदि कहो कि ब्रह्म से अन्य सचेतन जीव है, तो यह भी युक्त नहीं है क्योंकि 'साक्षी चेताः केवलः' इससे ब्रह्म ही चेतन सुनने में आता है—उसके अतिरिक्त दूसरा चेतन है ही नहीं। यदि कहो कि ब्रह्म ही जीव है तो यह भी युक्त नहीं है क्योंकि सम्पूर्ण प्राणीमात्र को 'ब्रह्म ही मैं हूँ' इस प्रकार पूर्णत्व और असंसारित्व ज्ञान का प्रसङ्ग होगा एवं संसार के अभाव का प्रसङ्ग होगा। इस प्रकार होने पर प्रत्यक्षादि सर्व प्रमाणों के साथ विरोध हो जायगा। और यदि कहो कि ब्रह्म ही अविद्या से जीव है तो तुम चिरंजीवी हो क्योंकि दूसरी गति न देखकर भगवान् ने भी यही अर्थ प्रतिपादित किया है कि जीवलोक में मेरा ही अंश जीव है। फिर यदि कहो कि ब्रह्म ही अविद्या से जीव हो गया है तो ऐसा मानने पर भी निरवयव (एक) ब्रह्म का अंशांशिभाव कैसे हो सकता है ? हम कहते हैं कि अविद्यारूप उपाधि से ऐसा हो सकता है। निरवयव (देहादि आकार से रहित) एक ही महाकाश की घटरूप उपाधि से विशिष्ट होने पर घटाकाश की कल्पना कर 'घटाकाश महाकाश का अंश है' इस प्रकार एक ही महाकाश का अंशांशिभाव होता है। उसी प्रकार एक ब्रह्म भी अविद्या से उत्थित बुद्धि आदिरूप उपाधिविशिष्ट होने पर उस उपाधि से अविच्छिन्न ब्रह्म के अंश की कल्पना कर 'जीव ब्रह्म का अंश है' इस प्रकार एक ही ब्रह्म के अंशांशिभाव की कल्पना की जा सकती है परन्तु वस्तुतः (पारमार्थिक दृष्टि से) अंशांशिभाव है, ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि वस्तुतः अंशांशिभाव को

मानने पर तुम्हारे द्वारा (विपक्ष के द्वारा) कहे गये दोष का प्रसङ्ग तथा श्रुति से भी विरोध होगा। किन्तु उसके (वास्तविक अंशांशिभाव के) न होनेपर तो कोई अनुपपत्ति (अयुक्तित्व) नहीं है। इसलिये उपाधिविशिष्ट ब्रह्म ही जीव है, ऐसा कहा जाता है। जैसे अग्नि के ही स्नेहयुक्त (घृत, तैल इत्यादि से युक्त) बत्ती के योग से 'दीप (दिया)' यह कथन है, ऐसे ही उपाधिविशिष्ट ब्रह्म ही जीव है, ऐसा समझना चाहिए। यदि शंका हो कि असङ्ग ब्रह्म का उपाधि से सम्बन्ध और विकारित्व कैसे होगा, तो इसपर कहते हैं कि जिस प्रकार शंख का पीत (पीला) आदि रंग से वास्तविक कोई सङ्ग न रहने पर भी नेत्र में स्थित पीलेपन से आध्यासिक सम्बन्ध होकर 'यह पीला शंख' इस प्रकार शंख में पीतत्व (पीलापन) प्रतीत होता है, उसी प्रकार ब्रह्म का भी उपाधि से आध्यासिक सम्बन्ध है एवं उससे 'आत्मा कर्ता है, भोक्ता है' इस प्रकार आत्मा में आध्यासिक संसारित्व सिद्ध होता है। यद्यपि वास्तव में ऐसा नहीं है क्योंकि 'ध्यायतीव लेलायतीव' (ध्यान करता हुआ सा, गमन करता हुआ सा) प्रतीत होता है, ऐसी श्रुति है आत्मा में इसी आध्यासिक संसार का प्रतिपादन करते हुए भगवान् भी कहते हैं कि 'प्रकृतिस्थानि कर्षति' (प्रकृति में लीन होकर स्थित मन सहित इन्द्रियों को खींचता है) ७–८ इन दोनों श्लोकों के अन्वय के अनुसार ऐकमत्य से अर्थ का वर्णन करना चाहिए। **सनातनः**—ब्रह्मरूप होने से सनातन अर्थात् नित्य, इसलिये **ईश्वरः**—देह, इन्द्रियादि की प्रवृत्ति का हेतु होने से उनका स्वामी अर्थात् जीव **यत् च अपि**—यहाँ चकार 'तु' (किन्तु) के अर्थ में है और 'अपि' 'वा' (विकल्प) के अर्थ में है अतः 'यत् च अपि' (यदा च वा) पद का अर्थ है जिस समय ही **उत्क्रामति**—जवात्मा उत्क्रमण करता है अर्थात् पूर्वगृहीत देह से निकल जाता है **तदा मनः षष्ठानि इन्द्रियाणि**—तब मन जिनमें छठा है उन मन सहित चक्षु, वाक्, आदि पंच इन्द्रियों को (तथा उपलक्षण से प्राणों को भी) **प्रकृतिस्थानि**—जो देह त्याज्य है उस देह में जो मन, इन्द्रियाँ, प्राण स्थित है उनका **कर्षति**–आकर्षण करता है (खींचता है) अर्थात् पीछे जो शरीर प्राप्त करने के योग्य है उस शरीर में विषय के उपभोग के लिये उनको ग्रहण करता है, यही कहने का अभिप्राय है। **शरीरम् यत् (यदा) आप्नोति**—जीवात्मा इस शरीर से अन्य शरीर को जब प्राप्त होता है **तदा वायुः**

आशयात् गंधान् इव—तत्र जिस प्रकार वायु आशय से (पुष्परूप स्थान या आश्रय से) गंध को [पुष्प के सूक्ष्म अवयव (अंश) को] खींचता है, उसी प्रकार वह **एतानि गृहीत्वा संयाति**—इन सबको अर्थात् मन, प्राण एवं दोनों प्रकार की इन्द्रियों को (कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय को) ग्रहण करके जाता है अर्थात् अन्य शरीर को प्राप्त होता है।

(३) **नारायणी टीका**—(श्लोक-८) पूर्व श्लोक में कहा गया है कि परमात्मा के धाम को प्राप्त हुए पुरुष को संसार में पुनरावर्तन नहीं होता किन्तु निद्रा और प्रलय काल में सब प्राणी ही परमात्मा में लीन हो जाते हैं, अतः उनके धाम को भी प्राप्त करते हैं इसलिये शंका होगी कि संसारी नामवाला कौन होगा ? इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि **जीवलोक**—में (जिस लोक में जीव समूह वास करते हैं उसमें अर्थात् संसार में) मेरी ही अंश अविद्या द्वारा अपने कर्ता, भोक्ता इत्यादि रूप से अभिमान कर जीवभूत होता है अर्थात् जीवभाव को प्राप्त होता है। जीव होने पर भी वह **सनातन**—(नित्य) है क्योंकि वह मुझ नित्य, अविकारी, अचल परमात्मा का ही अंश है। कहने का अभिप्राय यह है कि कल्पित संसार में कल्पित जीवत्व (जीवभाव) प्रवाहरूप में सनातन (नित्य) है और पारमार्थिक दृष्टि से भी जीव परम ब्रह्म का ही अंश होने के कारण स्वरूपतः (चैतन्यरूप से) नित्य एवं पूर्ण ही है। घटरूप परिच्छेद के कारण घटाकाश जिस प्रकार महाकाश का अंश माना जाता है परन्तु घटरूप उपाधि के नष्ट होने पर जिसप्रकार घटाकाश महाकाश ही हो जाता है एवं पुनः वह घट में नहीं लौटता उसी प्रकार अज्ञान से देह अन्तःकरण आदि उपाधि स्वीकार कर जीव अपने को परिच्छिन्न (सीमित) या अपूर्ण एवं चैतन्य के अंश रूप से मान लेता है किन्तु उस उपाधि का नाश होने पर भी शब्द चैतन्यस्वरूप आत्मा में लीन होकर अंश अंशी के साथ अभिन्नत्व को प्राप्त होकर फिर संसार में नहीं लौटता है। अतः पूर्व श्लोक में भगवान् ने जो कहा है कि 'मेरा धाम प्राप्त होने पर जीव का पुनरावर्तन नहीं होता है' यह युक्ति से भी सिद्ध होता है। प्रश्न होगा कि निरवयव (निराकार) तथा अनन्त ज्ञानस्वरूप परमात्मा का अंश कैसे संभव होगा ? फिर उसका अंश स्वीकार करने पर क्या वह विनाशी नहीं होगा इसके उत्तर में कहा

जायगा कि परमात्मा अनन्त होने के कारण उसका कोई विभाग या अंश हो नहीं सकता क्योंकि अनन्त का अंश भी अनन्त तथा पूर्ण ही होगा। अतः वस्तुतः परमात्मा में अंश-अंशिभाव का संभव नहीं है तथापि जल में जिस प्रकार सूर्य का अंश तथा घटादि में जिस प्रकार आकाश का अंश कल्पित होता है उसी प्रकार सर्वव्यापी, अद्वितीय, एकरस परमात्मा का भी अंश कल्पित मात्र है। अतः 'अंश' शब्द से वास्तविक अंश का सूचन नहीं किया गया है अर्थात् यहाँ 'अंश' शब्द औपचारिक है अर्थात् देहादि उपाधि से युक्त होने के कारण लोकदृष्टि शुद्धचैतन्यस्वरूप ब्रह्म के **अंश के समान**—जीव जीवलोक में (संसार में) प्रतीत होता है, परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से वह सदा ही ब्रह्मस्वरूप ही है। वह जीव किस प्रकार शरीरादि को ग्रहण कर संसार में जन्म लेता है एवं किस प्रकार से वह मृत्यु के समय शरीरादि का त्याग कर उत्क्रमण करता है, यह सूचित करने के लिये श्रीभगवान् ने कहा कि मृत्यु के समय मन जिसमें छठा है वे इन्द्रियाँ प्रकृति में (समष्टि माया में अर्थात् मूल अज्ञान में) लीन होती हैं। ['इन्द्रिय' शब्द से पंच कर्मेन्द्रियाँ पंच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पंच प्राण इन सब का उपलक्षण करके ग्रहण किया गया है। श्रुति में कहा है 'षोडशकलोऽयं पुरुषः' (जीव का सूक्ष्म शरीर पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंचकर्मेन्द्रियाँ, पंच प्राण तथा मन (अन्तःकरण) इन सोलह पदार्थों की समष्टि है। अतः यह लिङ्गदेह ही जब तक तत्वज्ञान द्वारा मुक्त नहीं होती है तब तक जीव संसार में आवागमन करता है। अतः 'मनः-षष्ठानीन्द्रियाणि' शब्द से इस लिङ्गदेह को ही सूचित किया।] कहने का अभिप्राय यह है कि सुषुप्ति अथवा मृत्यु के पश्चात् अथवा प्रलयावस्थामें अज्ञानरूप प्रकृति में (अव्यक्त अवस्था में) वह सोलह कला विशिष्ट लिङ्ग शरीर सूक्ष्मरूप से अवस्थित रहता है। कुर्म (कछुआ) जिसप्रकार अपने अन्दर उपसंहृत (समेट लिये हुए अङ्ग-प्रत्यङ्ग को अपने प्रयोजन के अनुसार बाहर कर लेता है उसीप्रकार जीव भी मृत्यु के पश्चात् जब स्थूल देह के भोग के उपयोगी कर्मों का उदय होता है तब अज्ञानरूप कारण में (उपादान कारणरूप प्रकृति में) लीन हुए उन सोलह कलाओं को जिससे पुनः शरीर के ग्रहण करने के पश्चात् अपने-अपने कर्मों के अनुसार भोग्य विषयों को ग्रहण करने में योग्य हो उसीप्रकार से] आकर्षण करता है (खींच लेता है) अर्थात् अभिव्यक्त या प्रकट

करता है। प्रतिदिन सुषुप्ति-अवस्था से जाग्रत अवस्था में आने के समय भी उसी प्रकार ही होता है। जागरण, स्वप्न तथा निद्रा (सुषुप्ति) सभी अदृष्ट (पूर्वकृत धर्म अधर्मरूप कर्म-समूहों) के सूक्ष्मसंस्कार के अनुसार होते हैं। जाग्रतकालीन भोग स्थूल देह पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय तथा मन से होते हैं। [पंचप्राण तो तीनों अवस्थाओं में समान ही रहते हैं]। स्वप्नावस्था का भोग केवल मन द्वारा ही सम्पादित होता है। बाह्य या आन्तर विषयों के भोगों के हेतुभूत कर्मों का या अदृष्ट का क्षय होने पर सुषुप्ति अवस्था प्राप्त होती है। इस अवस्था में विषय भोग न रहने के कारण जाग्रत कालीन भोगों के साधन इन्द्रियाँ आदि तथा स्वप्नकालीन भोगों का साधन मन समस्त व्यापार (चेष्टा) से रहित होकर अपने मूल कारण अज्ञानरूपा प्रकृति में (अव्यक्त में) लीन होते हैं एवं प्रकृति अपने अधिष्ठान स्वरूप ब्रह्म में लीन रहती है। फिर जब भोगजनक अदृष्ट प्रबल होता है तब वे विषयों के भोगों का सम्पादन करने के लिये अज्ञानरूपा प्रकृति से फिर अभिव्यक्त होते हैं क्योंकि जब तक इन्द्रियाँ एवं मन विषयों के साथ संयोगप्राप्त होकर विषयों को जीव के सामने उपस्थित नहीं करते हैं, तब तक जीव उनका भोग करने में समर्थ नहीं होता है। सुषुप्ति-अवस्था से जाग्रत-अवस्था में आने के समय जिसप्रकार होता है उसीप्रकार प्रलयावस्था से पुनः लोकसृष्टि के समय होता है। क्योंकि इन दोनों अवस्थाओं में ही अज्ञान रहने के कारण सुषुप्ति या प्रलय में जीव ब्रह्म के साथ एक होने पर भी मुक्त नहीं होता है जिसप्रकार सुषुप्ति के पश्चात् कभी-कभी स्वप्नावस्था आती है एवं उसमे मानसिक भोग चलता रहता है उसीप्रकार मृत्यु के पश्चात् जब तक स्थूल देह का ग्रहण नहीं होता है तब तक स्वाप्निक भोग के समान अपने-अपने कर्मानुसार उच्च-नीच (ऊँचे-नीचे) लोकों में मानसिक भोग चलता रहता है। किन्तु जीवित अवस्था में ही तत्त्वज्ञान द्वारा मूल अज्ञान का नाश होने पर जीव के ब्रह्म में लीन होने पर (ब्रह्म के साथ एकत्व प्राप्त करने पर) फिर संसार में पुनरावर्तन (पुनर्जन्म) नहीं होता है। यद्यपि सुषुप्ति तथा मोक्ष दोनों अवस्थाओं में ही देह, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदि का ब्रह्म में लय होने पर जीव ब्रह्म से अभिन्न रूप से ही स्थित रहता है, तथापि ज्ञानी का ही मोक्षावस्था में देह-इन्द्रियादि का **आत्यन्तिक** लय होता है अर्थात् बराबर के लिये उनकी समस्त क्रियाओं का नाश हो जाता है किन्तु

सुषुप्ति में ऐसा नहीं होता है। अज्ञान के कारण इन्द्रिय, मन, प्रभृत्ति के सूक्ष्मसंस्कार समूह का नाश न होने से फिर स्वप्न या जाग्रदवस्था में जीव का आना होता है। मृत्यु के पश्चात् भी उसी कारण से ही पुनर्जन्म होता है। अन्तःकरण आदि उपाधि समूह अज्ञानरूपा प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं, अतः जब तक अज्ञान का आत्यन्तिक नाश होकर जीव की पूर्वोक्त सोलह कलायें नष्ट नहीं होती हैं अर्थात् जीवत्वबुद्धि सम्यक् प्रकार से नष्ट नहीं होती है, तब तक जीव की मन जिनमें छठा है वे इन्द्रियाँ (उपलक्षण करके मन, दस इन्द्रियाँ एवं पंच प्राण—ये सोलह कलायें) पुनः पुनः प्रकृति में (मूल अज्ञान में) स्थित (अर्थात् प्रकृतिस्थ) होती हैं एवं मानसिक या स्थूल-भोग का समय उपस्थित होने पर जीव (परमब्रह्म के अंशरूप जीव चैतन्य) उन सबकी शक्ति का आकर्षणकर (खींचकर) जीवलोक (संसार) में व्यवहार करता है [जब तक वह अज्ञान का नाश कर ब्रह्मस्वरूपता को प्राप्त होकर जीवलोक से मुक्त नहीं हो जाता]।

श्लोक ८—देह-इन्द्रियादि का संघात जीव के कर्म-फल से उत्पन्न होता है एवं जब प्रारब्ध कर्मों के कर्म फल का भोग समाप्त होता है तब जिन जिन कर्मों के कर्मफल का भोग करने के लिये समय उपस्थित हुआ है उन कर्मों का अर्थात् नये प्रारब्ध का फल भोगने के लिये पुनः संसार में आकर जीव नूतन शरीर को ग्रहण करता है। अतः जीव के कर्मों से ही देह इन्द्रियादि के संघात की उत्पत्ति तथा मृत्यु एवं पुनर्जन्मादि होते हैं। इसलिये देह के परिणाम तथा भोग इत्यादि का **ईश्वर** (स्वामी) जीव ही है। जीव चाहे तो अपने कर्मों के द्वारा अपने को नीचे से नीचे गिरा सकता है और नहीं तो अपने को ऊँचे से ऊँचे अर्थात् ब्रह्मलोक, वैकुण्ठलोक, शिवलोक आदि में ले जा सकता है और यदि चाहे कि संसार से अपने को मुक्त कर लूँगा तो यह सामर्थ्य भी जीव को है। इसलिये भगवान् ने जीवाभिमानी चैतन्यसत्ता को ईश्वर कहा है। वह जीवरूप ईश्वर जिस समय प्रारब्ध कर्मों का क्षय होने पर उत्क्रमण करता है अर्थात् देह का त्याग करके निष्क्रान्त होकर (निकल कर) जिस समय दूसरे शरीर को ग्रहण करता है तब पूर्वोक्त मन तथा पंचेन्द्रियाँ (पंचज्ञानेन्द्रियाँ, पंचकर्मेन्द्रियाँ तथा पंचप्राण) को ग्रहण कर नूतन प्रारब्ध के (कर्मों के) फल भोगने के लिये सम्यक्रूप से अन्य शरीर में जाता है। 'संयाति' शब्द का तात्पर्य यह है कि इन सब इन्द्रियों को ग्रहण करके नये

शरीर में जाने के पश्चात् फिर पूर्व शरीर में लौटने की संभावना नहीं रहती है। उन सबको ग्रहण करके जीव किस प्रकार नये शरीर में जाता है यह दृष्टान्त द्वारा भी भगवान् स्पष्ट करते हैं—वायु जिसप्रकार गंध के आश्रय (अर्थात् आश्रयरूप पुष्पादि) से गंधात्मक सूक्ष्म अंश को लेकर गंधयुक्त होकर दूसरे स्थान में चला जाता है, उसी प्रकार जीव भी प्राचीन देह का त्याग कर उस देह से मन (अन्तःकरण अर्थात् अन्तःकरणाश्रित वासना एवं संस्कारसमूह) एवं बहिःकरण अर्थात् पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय, तथा पञ्च प्राण की सूक्ष्म शक्तियों को ग्रहण कर चला जाता है एवं जागतिक विषयों के भोग का समय उपस्थित होने पर पुनर्जन्म लेकर (दूसरे स्थूल शरीर का ग्रहण कर) उन इन्द्रियों तथा मन आदि की शक्ति से युक्त होकर अपने अपने भोग को निष्पन्न करता है।

[जिन इन्द्रियों को लेकर मन एक देह से दूसरी देह में चला जाता है उन्हीं इन्द्रियों के नाम तथा उन्हे जिस उद्देश्य से ग्रहण करके जाता है यह बताते हैं—]

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

अन्वय—अयम् श्रोत्रम् चक्षुः स्पर्शनम् च रसनम् घ्राणम् च मनः च अधिष्ठाय एव विषयान् उपसेवते।

अनुवाद—श्रोत्र (कान), चक्षु, स्पर्श (त्वचा), रसना (जिह्वा), घ्राण (नासिका) [तथा 'च' कार से कर्मेन्द्रिय और प्राण] एवं मन (अन्तःकरण) इन सबको ही अधिष्ठान कर (आश्रय लेकर) जीव विषय का सेवन करता है।

भाष्यदीपिका—इस शरीर में स्थित (जीवात्मा) **श्रोत्रम् चक्षुः स्पर्शनम् च, रसनम् घ्राणम् एव च**—श्रोत्र (कर्ण), चक्षु, त्वचा, रसना एवं घ्राण (नासिका) इनमें से प्रत्येक इन्द्रिय को **मनः च—अधिष्ठाय** आश्रय लेकर **विषयान्** शब्दादि विषयों का **उपसेवते**—सेवन (भोग) किया करता है। [श्रोत्रादि पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के साथ 'च' कार से पञ्च कर्मेन्द्रियाँ तथा प्राणों का भी ग्रहण किया गया है (मधुसूदन)] अर्थात् जीवात्मा पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्च प्राण एवं मन

(अन्तःकरण) इन सोलह कलाओं का आश्रय कर नये देह का परिग्रह कर अपने-अपने कर्म के अनुसार विषय का भोग किया करता है—यही कहने का अभिप्राय है।

टिप्पणी-(१) श्रीधर—कौन-कौन सी इन्द्रियों को पूर्व शरीर से ग्रहण करके जीव दूसरे शरीर में भलीभांति चला जाता है, उन इन्द्रियों को दिखाते हुए उनको जिस प्रयोजन से ग्रहण करके जाता है वह बताते हैं—**श्रोत्रम् चक्षुः इत्यादि**—वह जीव श्रोत्र, चक्षु, त्वचा, रसना तथा घ्राण (नासिका) इत्यादि समस्त बाह्य इन्द्रियों का तथा मन (अन्तःकरण) का आश्रय लेकर (दूसरे शरीर में जाकर) शब्दादि विषयों का भोग करता है।

(२) **शंकरानन्द**—इन्द्रियों को लेकर दूसरे शरीर में जाकर वह जीवात्मा क्या करता है? ऐसे प्रश्न के उत्तर में कहते हैं—**श्रोत्रम् चक्षुः स्पर्शनम् रसनम् घ्राणम् एव च**—श्रोत्र (कर्ण), चक्षु (आँख), स्पर्शन (त्वगेन्द्रिय अर्थात् त्वचा) रसना (जिह्वा) तथा घ्राण (नासिका) भी ['एव' शब्द अपि (भी) के अर्थ में है।] पहले चकार से वाक् आदि कर्मेन्द्रियों को एवं दूसरे चकार से पञ्चप्राण को (प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान-इन पंचप्राण को) ग्रहण किया है (इस विषय पर आठवें श्लोक की शंकरानन्दी टीका द्रष्टव्य)। **मनः च**—तथा छठी अन्तरेन्द्रिय जो मन (अन्तःकरण) है उसका भी [चकार से बुद्धि तथा अहंकार को भी ग्रहण किया है ये तीनों चकार समुच्चय के अर्थ में भी हैं अर्थात् पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय, पंचप्राण एवं अन्तःकरण इन सोलह कलाओं को (लिङ्ग शरीर को)] **अधिष्ठाय**—आश्रय कर अर्थात् इन सबको भोग के साधन बनाकर **अयम्**—स्वयं यह जीव (क्षेत्रज्ञ आत्मा शरी में वर्तमान रहकर) **विषयान् उपसेवते**—शब्दादि विषयो का सेवन करता है। श्रुति भी ऐसा कहती है—'एतस्मिन् बुद्धान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च' (इस जागरितावस्था में रमण करके, गमन करके, पुण्य और पाप के फल को देखता है) 'उपसेवते' शब्द का अर्थ है—इन्द्रियों के और विषय के सन्निकर्ष से (संयोग से) उत्पन्न हुई पुण्य-पापरूप क्रियाओं को इन्द्रियों को और विषयों को देखता है। पूर्व श्लोक में 'जिस शरीर को प्राप्त करता है और जिसको छोड़ता है' ऐसा कहकर शरीर से उत्क्रमण (चला जाना) और उसके संक्रमण (ग्रहण) के प्रतिपादन से जीवात्मा का

सूक्ष्म-शरीर (लिङ्ग देह) से विशिष्ट होना एवं हेय-उपादेय (त्याज्य तथा ग्राह्य) देह (स्थूल देह) से भिन्न होना प्रतिपादित किया गया है। फिर सातवें तथा आठवें श्लोक में 'मन जिनमें छठा है उन इन्द्रियों को पूर्व शरीर से आकर्षण करता है (खींचता है) तथा उनको ग्रहण करके दूसरे शरीर में जाता है' इस कथनानुसार ग्राह्य एवं ग्राहक का भेद प्रत्यक्ष होने से आत्मा बुद्धिमात्रउपाधि से युक्त है और इन्द्रियों से तथा मन से भी भिन्न है, ऐसा प्रतिपादित किया गया है। अब 'श्रोत्रम्' 'चक्षुः' इत्यादि कथन से 'आत्मा श्रोत्रादि इन्द्रियों, मन एवं बुद्धि को ग्रहण करके विषय का अनुभव करता है' ऐसा प्रतिपादित करके उपलब्ध आत्मा उपादेय से तथा उपलब्ध विषय से प्रत्यक्षरूप से भिन्न होने के कारण इन्द्रियों से, इन्द्रियों के अर्थ से, मन से तथा बुद्धि से एवं भोग के आयतन (आश्रय) देह से भी भिन्न ही है, इसे सम्यक्प्रकार से (भलीभांति) प्रतिपादित किया। 'चक्षुषः साक्षी श्रोत्रस्य साक्षी वाचः साक्षी मनसः साक्षी बुद्धेः साक्षी प्राणस्य साक्षी तमसः साक्षी सर्वस्य साक्षी ततोऽविक्रियः' [चक्षु का साक्षी, श्रोत्र का साक्षी, मनका साक्षी, बुद्धि का साक्षी, प्राण का साक्षी, तमका अर्थात् अज्ञानका साक्षी' सबका साक्षी इसलिये वह अविक्रिय (अविकारी) है] इत्यादि श्रुति वाक्यों के द्वारा सर्वश्रुति प्रसिद्ध आत्मा में सर्वसाक्षीत्व और अविक्रियत्व सूचित होता है।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्व श्लोक की नारायणी टीका में यह स्पष्ट किया गया है कि पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय, पंचप्राण एवं मन, ये सोलह कलाएँ शब्दादि विषयों के भोग के साधन हैं। अतः मृत्यु के पश्चात् अपने-अपने कर्मानुसार विषय-भोग के लिये ही जीव इन सोलह कलाओं को ग्रहण कर (पूर्वदेह का त्याग कर) नये शरीर में गमन करता है अर्थात् इन सोलह कलाओं से युक्त होकर पुनर्जन्म ग्रहण करके उनसे (उनका आश्रय करके शब्दादि विषयों का भोग करता है) जीव वस्तुतः शुद्ध चैतन्यस्वरूप (ब्रह्मस्वरूप) ही है परन्तु अज्ञान से जब इन सोलह कलाओं में आत्म-बुद्धि करता है, तब वह जीव नाम से प्रसिद्ध होता है इसलिये श्रुति में कहा है—'षोडश-कलोऽयं पुरुषः'। [श्रोत्र, चक्षु, स्पर्शन (त्वचा), रसना (जिह्वा), घ्राण (नासिका) ये पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ हैं; 'स्पर्शनं च' इसमें 'च' शब्द से वाक्, पाणि (हाथ), पाद, पायु (मलद्वार), उपस्थ (जननेन्द्रिय) इन पञ्चकर्मेन्द्रियों को ग्रहण किया गया है।

'प्राणमेव च' इसमें 'च' शब्द से प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान, इन पंचप्राण को ग्रहण किया गया है। और 'मनश्च' इसमें 'च' से मनसहित बुद्धि, अहंकार, चित्त अर्थात् समस्त अन्तःकरण को सूचित किया गया है। इसप्रकार इन सोलह कलाओं से युक्त पुरुष को जीव कहते हैं, यही उक्त श्रुतिवाक्य का तात्पर्य है। इन सोलह कलाओं को ग्रहण करके जीव अन्य देह में जाता है एवं एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को प्राप्त करता है (गीता १५।८), ऐसा कह कर भगवान् ने यह स्पष्ट कर दिया है कि जीव उन सोलह कलाओं से तथा शरीर से सर्वथा पृथक् हैं क्योंकि ग्रहणकर्ता अवश्य ही ग्राह्य वस्तु से पृथक् होगा। अथवा वर्तमान श्लोक में उक्त 'अधिष्ठाय' शब्द के द्वारा आश्रयितव्य (आश्रय करने योग्य वस्तु से) आश्रयकर्ता से भिन्न ही होगा। अतः जीव की कोई पृथक् पारमार्थिक सत्ता न रहने के कारण जीवत्व अज्ञान से कल्पित ही है। इसलिये अज्ञान की निवृत्ति होने पर जीव उक्त सोलहकलारूप उपाधि से रहित होकर अपने स्वरूप ब्रह्मत्व को प्राप्त होता है, यही कहने का अभिप्राय है।

[यदि पूर्व श्लोकोक्त सोलह कलाओं से युक्त होकर जीव बनकर आत्मा दूसरे शरीर में जाता है अथवा शरीर में रह कर भोग करता है तब तो वह दर्शन के योग्य होगा और यदि दर्शन के योग्य हो तो सभी लोग उसे क्यों नहीं देखते हैं? इसके उत्तर में कहते हैं—]

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥ १०॥

अन्वय—विमूढाः (तम्) उत्क्रामन्तम्, स्थितम् वा भुञ्जानम् अपि गुणान्वितम् वा न अनुपश्यन्ति, ज्ञानचक्षुषः तु पश्यन्ति।

अनुवाद—पूर्व देह से देहान्तर में जाते हुए अथवा इस देह में रहते हुए तथा गुणों से (इन्द्रियादि से) युक्त होकर भोग करते हुए जीव को मूढ़ लोग नहीं देखते, किन्तु ज्ञाननेत्र वाले ही देखते हैं।

भाष्यदीपिका—**विमूढाः**—मूढ़ लोग अर्थात् दृष्ट-अदृष्ट (इहलौकिक तथा पारलौकिक) विषय भोगों की लालसा के बल से जिनके चित्त आकृष्ट हो जाने के कारण

अनेक प्रकार से मोहित हो रहे हैं [अथवा अनात्म देहादि से आत्मा को विवेक करने में (पृथक् करने में) असमर्थ होकर देह में ही आत्मबुद्धि करते हैं इसप्रकार अत्यन्त मोहग्रस्त लोग] **उत्क्रामन्तम्**—(प्रारब्ध कर्मों का क्षय होने पर) पहले प्राप्त हुए शरीर को छोड़कर जाते हुए को **स्थितम वा अपि**—अथवा शरीर में स्थित रहते हुए को **भुञ्जानम् वा**—शब्दादि विषयों का भोग करते हुए को **गुणान्वितम् (वा)**—अथवा सुख-दुःख-मोह आदि गुणों से युक्त हुए को भी अर्थात् इसप्रकार सर्वावस्थाओं में [देह का त्याग करने में, देह को ग्रहण करने में, देह में स्थित रहने में, विषयों का भोग करने में तथा गुणों से अर्थात् सुख-दुःख-मोह आदि से युक्त होने में] दर्शन का गोचर (दर्शन का विषय) होते हुए भी इस जीव को **न अनुपश्यन्ति**—नहीं देखते ['अहो! यह बड़े दुःख की बात है' इसप्रकार भगवान् अज्ञानियों के लिये खेद प्रकट करते हैं।] परन्तु **ज्ञानचक्षुषः पश्यन्ति**—जो प्रमाणजनित ज्ञानरूप नेत्रों से युक्त हैं अर्थात् विवेक दृष्टि से सम्पन्न (विवेकी पुरुष) हैं वे ही उसे यथार्थरूप से देखते हैं।

टिप्पणी (१) श्रीधर—यदि प्रश्न हो कि कार्यकारण के संघातरूप शरीर से (सोलह कला विशिष्ट लिङ्ग शरीर से) पृथक् करके इस आत्मा को सभी क्यों नहीं देख पाते ? इसके उत्तर में कहते हैं—**उत्क्रामन्तम्**—पूर्व शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाते हुए **स्थितम् वा अपि**—उसी शरीर में स्थित हुए **भुञ्जानम् वा**—और विषय का भोग करते हुए **गुणान्वितम्**—गुणों से (इन्द्रियादि से) युक्त हुए जीव को **विमूढाः**—विमूढ़ (विशेषरूप से मोहप्राप्त अर्थात् अविवेकी) लोग **न अनुपश्यन्ति**—नहीं देखते अर्थात् उसका अवलोकन नहीं करते किन्तु **ज्ञानचक्षुषः पश्यन्ति**—जिनके ज्ञान ही नेत्र हैं वे विवेकी देखते हैं।

(२) शंकरानन्द—इसप्रकार देह, इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि आदि से पृथक् स्वविक्रिय, अकर्ता, अभोक्ता, सत्र के साक्षीरूप से स्थित सत्स्वरूप आत्मा को ब्रह्मविद् महात्मा लोग सर्वदा देखते हैं किन्तु अब्रह्मविद् मूढ़ लोग नहीं देख पाते यही श्रीभगवान् अत्र कहते हैं—**उत्क्रामन्तम्**—शरीरादि उपाधि के उत्क्रमण करने पर [भिक्षादि कार्य के लिये जाने पर 'ध्यायतीव, लेलायतीव' (ध्यान करता हुआ सा, गमन करता हुआ सा) इस न्याय से स्वयं उत्क्रमण करते हुए (जाते

हुए) के समान प्रतीयमान] **स्थितम् वा अपि**—'वा' शब्द 'इव' के अर्थ में है । उपाधि की स्थिति से स्थित के समान **भुञ्जानम् वा (इव)**—शरीरादि उपाधि के भोग करनेवाले के समान **गुणान्वितम् वा (इव)**—शरीर, अन्तःकरण आदि गुणों से अर्थात् सत्त्वादि गुणों के विकार सुख-दुःख, काम-क्रोध, मोह, भय आदि से अन्वित (युक्त) होने पर आत्मा स्वयं भी गुणों से युक्त के समान प्रतीत होता है परन्तु जो स्वभाव से निष्कल, निष्क्रिय, निर्विकार, निर्विकल्प, चिदेकरस, आनन्दघन आत्मा है उस अपने स्वरूपभूत अविक्रिय आत्मा को **ज्ञानचक्षुषः**—'मैं शुद्ध चैतन्य-स्वरूप प्रत्यगात्मा हूँ' इस भाव को प्राप्त हुई शुद्ध बुद्धि को ज्ञान कहते हैं—वही ज्ञान जिस प्रकार चक्षुरूपादि को ग्रहण करता है, उसी प्रकार स्वरूप को (ब्रह्मस्वरूप आत्मा को) ग्रहण करने में समर्थ होता है तब उसे ज्ञानचक्षु (ज्ञानरूपी चक्षु) कहते हैं। इसप्रकार ज्ञानचक्षु वाले (शुद्ध मन वाले) यति **पश्यन्ति**—देखते हैं अर्थात् वे आहार आदि समस्त कर्मों में सर्वदा निष्कल, निष्क्रिय, नित्यशुद्ध, समस्त उपाधि से रहित, परिपूर्ण, सत्स्वरूप आत्मा को ही देखते हैं—यही कहने का अभिप्राय है। **विमूढाः**—दृष्ट और अदृष्ट के (इहलोक के तथा परलोक के) विषय की वासना के वशीभूत दुर्बुद्धि, बहिर्मुख, सत्-असत् विवेक तथा वैराग्य, संन्यास, शम, दम आदि साधन-सम्पत्ति से तथा तीव्र मोक्ष की इच्छा से एवं सद्गुरु के पास विशेष ज्ञान के सम्यक् सम्पादन के अभाव से जो विशेषभाव से मूढ़ता को प्राप्त हुए हैं वे **न अनुपश्यन्ति**—'अनु' शब्द का अर्थ है अनुसार "यह सब मैं ही हूँ' इस वेदान्त वाक्य के अर्थ के अनुसार उक्त आत्मा को नहीं देखते किन्तु (देह, इन्द्रियादि में आत्मबुद्धि कर 'मैं कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी हूँ--'मैं मारा गया', 'मैं मारता हूँ' तथा 'मेरा यह नष्ट हो गया' इसप्रकार आत्मा को संसारी देखता है--यह कहने का अभिप्राय है) ।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्व श्लोक की टीका में कहा गया है कि पंच-ज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय, पंचप्राण एवं अन्तःकरण, इन सोलह कलाओं में आत्मबुद्धि कर आत्मा ही जीवरूप से प्रतीत हो रहा है। वस्तुतः शुद्धचैतन्यस्वरूप, निष्क्रिय, निर्विकार, अचल, सनातन आत्मा अपने स्वरूप से कभी विच्युत नहीं होता है। केवल माया से ही जीव बनकर वह एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में उत्क्रमण कर रहा है अथवा

वर्तमान शरीर में स्थित है या विषय-भोग कर रहा है अथवा गुणों से अर्थात् सत्त्वगुण से उत्पन्न हुए सुख से, रजोगुण से उत्पन्न हुए दुःख से, तथा तमोगुण से उत्पन्न हुए मोह से युक्त हुआ है—ऐसा प्रतीत होता है। यह सभी माया या अज्ञानजनित कल्पना शक्ति का खेल है। अतः जो लोग अज्ञान से विमूढ़ हुए हैं अर्थात् अपने-अपने आश्रमोचित शास्त्रविहित कर्मों के अनुष्ठान के अभाव से चित्तशुद्धि प्राप्त नहीं करने के कारण आत्मा-अनात्म के विवेक से, शम-दमादि साधन सम्पत्ति से तथा वैराग्य से सम्पन्न होकर गुरुमुख से वेदान्तवाक्यों के श्रवणादि से वंचित रह गये हैं, अतः अज्ञान के वशीभूत होने के कारण जो देह-इन्द्रियादि में (अर्थात् पूर्वोक्त सोलह कलाओं में) आत्म-बुद्धि कर विशेष भाव से मूढ़ता प्राप्त हो गये हैं वे शरीर से उत्क्रमण करते हुए देह में स्थित रहते हुए, विषय का भोग करते हुए तथा सुख, दुःख, मोहादि गुणों के कार्य से युक्त रहते हुए अपने को लिङ्ग शरीर से अलग कर अपने शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा में स्थित होकर 'अयमात्मा ब्रह्म' (मेरी यह आत्मा ब्रह्मस्वरूप ही है) इस वेदान्त वाक्य के अनुसार आत्मा को देख नहीं सकते (साक्षात् अनुभव नहीं कर सकते) किन्तु जिनको ज्ञानचक्षु उन्मिलित हुआ है अर्थात् जो अनात्म देहादि से शुद्ध आत्मा को पृथक् कर अपने यथार्थस्वरूप के ज्ञान को प्राप्त हुए हैं वे उस ज्ञानरूपी चक्षु के द्वारा देख लेते हैं कि 'मैं एक सत्स्वरूप, ज्ञानस्वरूप, अनन्तस्वरूप ब्रह्मरूप महा समुद्र हूँ और ये सब जीवसमूह मुझको आश्रय करके ही तरंग के समान एक देह से दूसरी देह में प्रवेश कर रहे हैं, कुछ समय तक उसमें स्थित रहते हैं, विषय का भोग कर रहे हैं एवं सुख, दुःख, मोह से युक्त होकर कभी ऊपर उठ रहे हैं, कभी नीचे गिर रहे हैं किन्तु अन्त में मायारचित सर्वप्रकार की उपाधि से रहित होकर मुझमें ही ये सब कल्पित जीवरूपी तरङ्गसमूह प्रवेश कर जायेंगे। अष्टावक्र गीता में भी ब्रह्मविद् ज्ञानी का अनुभव इसी प्रकार कहा है।

[पूर्व श्लोक में कहा है कि ज्ञाननेत्र वाले उसे देखते हैं—इस वाक्य का अत्र स्पष्टीकरण करते हैं–]

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११ ॥

अन्वय—यतन्तः योगिनः च एनम् आत्मनि अवस्थितम् पश्यन्ति, अकृतात्मानः अचेतसः यतन्तः अपि एनम् न पश्यन्ति ।

अनुवाद—ध्यानादि साधनों द्वारा यत्न करनेवाले योगीजन इसे (परमात्मा को) अपने अन्तःकरण में (बुद्धि में) अवस्थित (प्रतिफलित) देखते हैं किन्तु जो अकृत आत्मा (अर्थात् तपस्या, इन्द्रिय-संयम इत्यादि के द्वारा जिनकी चित्तशुद्धि नहीं हुई वे अशुद्धचित्तवाले अविवेकी पुरुष) यत्न करने पर भी इसे नहीं देख पाते ।

भाष्यदीपिका—**यतन्तः**—श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि साधनों के द्वारा प्रयत्न करने वाले **योगिनः च**—समाहितचित्त (समाधिनिष्ठ) योगीजन ही [यहाँ 'च' शब्द निश्चय के अर्थ में है (मधुसूदन)] **एनम्**—इस आत्मा को जिसका कि प्रकरण चल रहा है **आत्मनि अवस्थितम्**—अपने अन्तःकरण में (बुद्धि में) अवस्थित अर्थात् प्रतिफलित या प्रतिबिम्बित **पश्यन्ति**—देखते हैं अर्थात् 'वही मैं हूँ' इस प्रकार अपने आत्मा के स्वरूप का साक्षात्कार किया करते हैं परन्तु **अकृतात्मानः**—तपस्या, दान एवं शास्त्रविहित यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान तथा इन्द्रियजय आदि साधनों द्वारा जिन्होंने अपने अन्तःकरण का संस्कार नहीं किया वरन् दुष्ट आचरणों से विरत न होने के कारण अशान्त एवं घमण्डी हैं वे **अचेतसः**—अविवेकी पुरुष (विवेकशून्य पुरुष) **यतन्तः अपि**—केवल शास्त्रादि के प्रमाण द्वारा अर्थात् युक्ति, तर्क आदि द्वारा आत्मस्वरूप को जानने के लिये प्रयत्न करते हुए भी **एनम्**—इस आत्मा को **न पश्यन्ति**—नहीं देख पाते ।

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—इस तत्त्व को जानना बहुत ही कठिन है, क्योंकि विवेकियों में भी कोई-कोई ही देखते हैं, कितने ही नहीं देख पाते—यह कहते हैं-**यतन्तः योगिनः इत्यादि**—यज्ञ, जप, ध्यान आदि साधनों के द्वारा प्रयत्न करते हुए कोई-कोई योगीजन शरीर में स्थित हुए इस आत्मा को शरीर से पृथक् (अलग) देखते है किन्तु **अकृतात्मानः इत्यादि**—शास्त्राभ्यास आदि साधनों के द्वारा प्रयत्न करते हुए

भी अकृतात्मा (जिनका चित्त शुद्ध नहीं हुआ है वे) एवं इसी कारण जो अचेत अर्थात् मन्द बुद्धि से युक्त यानी अविवेकी हैं वे इसको (परमात्मा को) नहीं देख पाते अर्थात् आत्मा को शरीर से अलग देखने में समर्थ नहीं होते।

(२) **शंकरानन्द**—जो कि संसिद्ध अर्थात् प्रबुद्ध-शुद्ध मनवाले यति हैं वे ही सम्पूर्ण उपाधियों से रहित केवल आत्मा को देखते हैं—दूसरे व्यक्ति नहीं देख सकते हैं, ऐसी शंका करना युक्त नहीं है क्योंकि मेरे प्रसादरूपी सम्पत्ति से जो यति योगनिष्ठ होते हैं वे भी आत्मा को ऐसा ही देखते हैं। अतः केवल संसिद्ध आदि लक्षण वाले पुरुष ही देखते हैं, ऐसा नहीं—यही अत्र स्पष्ट कर रहे हैं—**यतन्तः**—शास्त्र, आचार्य, आत्मा और मेरे प्रसाद से सम्पन्न होकर सत्-असत् के (आत्मा तथा अनात्म वस्तु के) विवेक से तथा तीव्र वैराग्य, शम, दम आदि साधनों की सम्पत्ति से यत्न करते हुए अर्थात् श्रवण, मनन आदि से ज्ञान की सिद्धि के लिये प्रयत्न करते हुए **योगिनः च**—योगीजन अर्थात् यति उस प्रयत्न से ज्ञान को प्राप्त कर लेते है [शास्त्र में योगी का लक्षण इस प्रकार कहा गया है—'लक्ष्यैकतां समासाद्य निर्विकारतयाऽऽत्मनि। मनसो निश्चलत्वेन स्थितिर्योग इतीर्यते'। (लक्ष्य की एकता प्राप्त करके निर्विकाररूप से आत्मा में मन की निश्चलरूप से जो स्थिति है, उसको योग कहा जाता है)। उक्त लक्षणों से सम्पन्न होकर तीव्र मोक्ष की इच्छा तथा वैराग्य से बाहर की प्रवृत्ति से रहित होकर जिनका चित्त आत्मा में अविकाररूप (अविचलित भाव) से स्थितिरूप योग निष्पन्न हुआ है वे योगी अर्थात् आत्मा में ही समाहित चित्तवाले होते हैं।] इस प्रकार योगीजन ही **आत्मनि**—बुद्धि में **अवस्थितम् पश्यन्ति**—बुद्धि आदि के प्रकाशकरूप से आत्मा को देखते हैं अर्थात् 'वही मैं हूँ' इस प्रकार अपने स्वरूप को साक्षात्कार कर आत्मा को अकर्ता, अभोक्ता, असंसारी ही देखते हैं (अनुभव करते हैं) **यतन्तः अपि**—परन्तु जो मेरे प्रसाद से रहित हैं वे श्रवण, मनन आदि से आत्मसाक्षात्कार की सिद्धि के लिये नाना प्रकार से प्रयत्न करते हुए अर्थात् सुनते-सुनाते हुए भी **अकृतात्मानः**—अकृतात्मा (अशुद्धचित्तवाले) ही रहते हैं ['अकृत'—शब्द का अर्थ है बाह्यविषय, कर्म के विषय एवं शास्त्रादि के विषय के प्रति वासना रहने के कारण जिनका **आत्मा**—(चित्त) अवशीभूत होकर बाहर की ओर प्रवाहित होता रहता है

वे अकृतात्मा हैं अर्थात् अविद्या, अस्मिता (अहंकार), राग, द्वेष, अभिनिवेष (मृत्यु-भय) इन पंच क्लेशों से जो युक्त रहते हैं वे ही अकृतात्मा हैं।] इसीलिये **अचेतसः**—विवेक-शून्य तथा बहिर्मुख होने के कारण **न पश्यन्ति**—नहीं देखते हैं अर्थात् 'यही मैं हूँ' इस प्रकार निर्विशेष परमब्रह्म को अपने आत्मरूप से नहीं जानते।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्व श्लोक में कहा है कि एक देह से दूसरे देह में जाना, किसी देह को आश्रय करके रहना, विषय-समूह का भोग करना या सुख-दुःख मोहादि से युक्त होना—ये सोलह कलायुक्त लिङ्ग शरीर का ही धर्म है, आत्मा इससे पृथक् है। किन्तु जिस विवेकी पुरुष का ज्ञान चक्षु खुल गया है वही शरीरादि से आत्मा को पृथक् कर, 'मैं ही वह ब्रह्मस्वरूप, नित्य, शुद्ध आत्मा हूँ' इस प्रकार साक्षात् अनुभव करता है। अब ज्ञानवान् पुरुष किस प्रकार से एवं कहाँ इस आत्मा को देखता है, यह श्रीभगवान् स्पष्ट करते हैं—गीता में यह बारम्बार कहा गया है कि शास्त्र के विधानानुसार ईश्वरार्पणबुद्धि से स्वधर्म पालन करने पर (अर्थात् शास्त्रविहित यज्ञ, दान एवं तपस्यादि कर्मों के अनुष्ठान द्वारा) चित्तशुद्धि होती है अर्थात् विषय-वासनारूपी मलसमूह क्रमशः नष्ट होते रहते हैं एवं साथ ही साथ भगवत्प्राप्ति के लिये वासना उत्पन्न होती है। भगवान् के लिये वासना जाग्रत होने पर उनके यथार्थ स्वरूप को जानने के लिये जिज्ञासा का उदय होता है, जिज्ञासा उत्पन्न होने पर शास्त्रज्ञ एवं ब्रह्मनिष्ठ गुरु से वेदान्त महावाक्यादि के श्रवण, मनन (विचार) आदि द्वारा 'जगत् मिथ्या है एवं एकमात्र ब्रह्म ही सत्य वस्तु है' ऐसा निश्चय होने पर चित्त-वासनारहित होकर विक्षेप-शून्य होता है। उसी अवस्था में प्रयत्नशील योगी निदिध्यासन द्वारा निर्विकल्प समाधि को प्राप्त होता है एवं आत्मा में आत्मा को (परमात्मा को) देखता है अर्थात् 'मैं और परमात्मा एक ही हैं' इस प्रकार साक्षात् अनुभव करता है [यहाँ 'पश्यन्ति' शब्द द्वारा 'आत्मा कोई दृश्यवस्तु है'] ऐसा नहीं समझाया गया है। अतः 'पश्यन्ति' शब्द का अर्थ है—'साक्षात् अनुभव करते हैं'। श्लोक में 'योगिनः च' इसपद में 'च' शब्द 'हि' (निश्चय) अर्थ में है अर्थात् शुद्ध चित्त योगी ही इस प्रकार आत्मदर्शन कर सकते हैं दूसरे नहीं, यही सूचित किया गया है। बहुत से टीकाकारों ने 'आत्मनि' शब्द का अर्थ 'निर्मल बुद्धि' किया है। इसमें कोई विरोध नहीं है क्योंकि बुद्धि सात्त्विक

गुण से उत्पन्न होने के कारण निदिध्यासन या समाधि द्वारा बुद्धि अतिशय स्वच्छ (निर्मल) होने पर वह स्वच्छ दर्पण के समान आत्मा का प्रतिबिम्ब यथार्थरूप से ग्रहण करने में समर्थ होती है। इसलिये गीता में भी आत्मा को 'बुद्धिग्राह्यं' कहा है (गीता ६) तथा श्रुति में भी कहा है।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढ़ोऽऽत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥ (क० उ० १।३।१२)

अर्थात् यह आत्मा सर्वभूतों में आवृत (छिपा हुआ) रहने के कारण प्रकाशित नहीं होता है परन्तु **एकाग्र तथा सूक्ष्म बुद्धि से** सूक्ष्म दृष्टि सम्पन्न विद्वान् उनको प्रत्यक्ष देखता है (अनुभव करता है)।

न सन्दशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तोय एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥
(क० उ० २।३।९)

अर्थात् इस आत्मा का रूप दृष्टि का विषय नहीं होता है क्योंकि कोई भी चक्षु से इसको देख नहीं सकता। यह आत्मा जब मनन रूप सम्यक् दर्शन द्वारा अभिप्रकाशित होता है तब वह हृदय में अवस्थित विषय-कल्पना से रहित बुद्धि-वृत्ति द्वारा उपलब्ध होता है। जो उस आत्मा को प्रत्यक्ष ब्रह्मरूप से जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं।

किन्तु निर्विकल्प समाधि में निष्ठा होने पर वह निर्मल बुद्धिवृत्ति भी आत्मा में लय हो जाती है एवं उसी अवस्था में एकमात्र आत्मसत्ता के विद्यमान रहने से **आत्मा में ही**—अभिन्नरूप से निष्कल, निष्क्रिय, निर्विकार ब्रह्मस्वरूप आत्मा को जाना जाता है। अतः इसमें कोई विरोध नहीं है।

किन्तु यज्ञ, तपस्या, इन्द्रियजय इत्यादि का अनुष्ठान न करने से आत्मा (अन्तःकरण) अकृत (मलिन अर्थात् अशोधित) रहता है अर्थात् निर्मल नहीं होता है। अतः साधन सम्पत्ति के अभाव के कारण असंस्कृत अन्तःकरण रहने पर जो विवेकहीन होते हैं अर्थात् अनात्म देह-इन्द्रियादि दृश्य वस्तु से आत्मा का विवेक (पृथक्) करने में असमर्थ होते हैं वे केवल शास्त्रों के प्रमाण आदि के द्वारा अर्थात्

तर्क वितर्क आदि द्वारा आत्मदर्शन करने के लिये प्रयत्न करते हुए भी जिस आत्मा का प्रसंग चल रहा है उस आत्मा को नहीं देखते अर्थात् 'सर्वोपाधिरहित शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा मैं ही हूँ' इस प्रकार से निर्विशेष परमब्रह्म को अपने आत्मा के रूप से साक्षात् अनुभव नहीं कर सकते। कहने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार मलिन वस्त्र में रंग नहीं लगता है उसी प्रकार अशुद्ध बुद्धि में हजारों वेदान्त, शास्त्र आदि के श्रवण, मनन द्वारा भी आत्मा का प्रतिबिम्ब नहीं देखा जाता। अतः मलिनबुद्धि वाले अज्ञ व्यक्ति के लिये आत्मा अज्ञात ही रहता है। किन्तु शुद्ध-चित्त समाधिनिष्ठ योगी के हृदय में नित्य, बुद्ध, मुक्त, शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा स्वतः ही यथार्थ स्वरूप से प्रकट होता है। श्रुति भी ऐसा ही कहती है—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमनसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥ (क० उ० १।२।२४)

अर्थात् जो दुष्कर्म (पापाचरण) से निवृत्त नहीं हुआ है, जिनका इन्द्रियों के विषय के प्रति लोलुपता रहने के कारण चित्त अशान्त है, जो एकाग्रचित्त नहीं हो सकता अथवा समाधि के फलस्वरूप अणिमादि सिद्धियों का लाभ करने के लिये जिसका मन व्याकुल है, वह वेदादि शास्त्रों के अर्थ के भली-भांति ज्ञान से भी आत्मा को प्राप्त नहीं हो सकता अर्थात् आत्मा के यथार्थ स्वरूप का साक्षात् अनुभव नहीं कर सकता।

पूर्व श्लोक में शुद्ध चित्त योगी आत्मसाक्षात्कार करने में समर्थ होता है किन्तु अशुद्ध चित्त अविवेकी लोगों से ऐसा होना असंभव है। इसे स्पष्ट किया गया है। अब जिस आत्मा का साक्षात्कार करना ही कल्याणकामी मनुष्यों के जीवन का परम लक्ष्य है, उस आत्मा का परिचय देने के लिये उसकी विभूतियों का संक्षेप में वर्णन किया जा रहा है। कहने का अभिप्राय यह है कि जो ब्रह्मपद समस्त वस्तुओं का अवभासक (प्रकाशक) है किन्तु अग्नि, आदित्य (सूर्य) आदि ज्योतियां भी जिस परमपद को प्रकाशित नहीं कर सकती तथा जिस परमपद को प्राप्त कर मुमुक्षुजन फिर संसार की ओर नहीं लौटते तथा घटाकाश जिस प्रकार महाकाश का अंश है उसी प्रकार अन्तःकरण आदि उपाधि के भेद से विभिन्न हुए जीव जिस परमपद के अंशरूप से कल्पित होते हैं, वह

परम पद ही सर्वभूतों का आत्मा एवं समस्त व्यवहार का एकमात्र आश्रय (अधिष्ठान सत्ता) है। इसे बतलाने की इच्छा से श्रीभगवान् चार श्लोकों द्वारा (१२–१५ श्लोकों से) उस परम पद की अर्थात् अपनी ही विभूतियों का संक्षेप से वर्णन करते हैं ये चार श्लोक वस्तुतः चतुर्दश अध्याय के अन्त में 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्' इत्यादि से जो कहा गया है उसका ही स्पष्टीकरण करने के लिये हैं।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥ १२ ॥

अन्वय—आदित्यगतं यत् तेजः अखिलम् जगत् भासयते तथा चन्द्रमसि यत् तेजः, अग्नौ च यत् तेजः (दृश्यते), तत् मामकम् (एव) तेजः विद्धि।

अनुवाद—सूर्य में रहने वाला जो तेज समस्त जगत् को प्रकाशित करता है। तथा जो तेज चन्द्रमा एवं अग्नि में भी है, उसे तुम मेरा ही तेज समझो।

भाष्यदीपिका—['न तद्भासयते सूर्यः' (गीता १५।६) इत्यादि श्लोक से 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भाति कुतोऽयमग्निः' इस आधी श्रुति की व्याख्या की गई है। अब 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इस आधी श्रुति की व्याख्या इस श्लोक से की जाती है (मधुसूदन)]। **आदित्यम् यत् तेजः**—आदित्य में (सूर्य में) स्थित हुआ अर्थात् सूर्य को आश्रय करके उसमें स्थित हुआ जो तेज (दीप्ति) या प्रकाश **अखिलम् जगत् भासयते**—समस्त जगत् को प्रकाशित करता है (**तथा**) **चन्द्रमसि यत् तेजः**—एवं जो प्रकाश करने वाला तेज शशाङ्क (चन्द्रमा) में स्थित है, **अग्नौ च यत् तेजः**—और जो तेज अग्नि में स्थित है **तत् मामकम् (एव) तेजः विद्धि**—उस तेज को तुम मुझ विष्णु की ही (अपनी ही) ज्योति (तेज) समझो अथवा 'तेज शब्द का अर्थ है चैतन्यात्मक (चैतन्यस्वरूप) ज्योति। इस प्रकार अर्थ करने पर श्लोक का अर्थ इस प्रकार होता है जो तेज अर्थात् चैतन्यस्वरूप ज्योति सूर्य में दूसरी वस्तुओं के प्रकाशक रूप से स्थित है तथा जो चन्द्रमा और अग्नि में स्थित है उस तेज को तुम मुझ विष्णु की अपनी चैतन्यमय ज्योति ही समझो।

पूर्वपक्ष—वह चैतन्यात्मक ज्योति तो स्थावर जङ्गम (चर-अचर) सभी पदार्थों में समान भाव से स्थित है, फिर यह विशेष भाव से क्यों कहा गया कि—'जो तेज सूर्य में स्थित है इत्यादि'।

उत्तर पक्ष—यह दोष नहीं है क्योंकि चैतन्यस्वरूप आत्मज्योति सर्वत्र समभाव से विद्यमान रहने पर भी सत्त्वगुण की (सत्त्वगुणजनित स्वच्छता की) अधिकता से उनमें अधिकता सम्भव है अर्थात् सूर्यादि में सत्त्व गुण की अधिकता है, अतः उनमें ही ब्रह्मज्योति अत्यन्त प्रकट (प्रतिभासित) होने के कारण उनकी विशेषता बतलाई गई है। यही कहने का अभिप्राय नहीं है कि दूसरी वस्तु की अपेक्षा सूर्यादि में ब्रह्मज्योति कुछ अधिक है। जिसप्रकार मुख की सन्निधि समान रूप से रहने पर भी काष्ठ और भित्ति आदि में उसका (मुख का) प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता है किन्तु दर्पण आदि पदार्थों में जो जितना स्वच्छ और स्वच्छतर होता है उसके तारतम्य से मुख का प्रतिबिम्ब भी उसमें स्वच्छ और स्वच्छतर ही दीखता है, उसीप्रकार सूर्यादि में आत्मप्रतिबिम्ब के आविर्भाव की विशेषता है। ['तत्तेजो विद्धि मामकम्' इसप्रकार यहाँ 'तेजः' पद को ग्रहण करने से श्रीभगवान् के कहने का अभिप्राय ऐसा प्रतीत होता है कि संसार की समस्त रूपवान वस्तुओं को प्रकाशित करनेवाला जो तेज सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि में है, उसे तुम मेरा तेज अर्थात् विभूति समझो—इसप्रकार विभूति कहने के लिये ही 'तेजः' शब्द का पुनः प्रयोग हुआ है नहीं तो 'तेजः' पद को ग्रहण किये बिना ही 'तत् मामकम् विद्धि' इतना ही कहते। (मधुसूदन) श्लोक में 'मामकम् तेजः' इन दोनों शब्दों का 'राहोः शिरः' (राहु का सिर) के समान प्रयोग किया गया है अर्थात् राहु एवं राहु का सिर जिसप्रकार एकही वस्तु है उसीप्रकार मैं और मेरा तेज अभिन्न हैं अर्थात् वह तेज मेरा स्वरूप ही है इस अर्थ में ऐसा कहा गया है।]

टिप्पणी (१) श्रीधर—इस अध्याय के छठे श्लोक में 'न तद्भासयते सूर्यः इत्यादि' पद द्वारा परमेश्वर के परमधाम का वर्णन किया एवं उसको प्राप्त करनेवालों की पुनरावृत्ति नहीं होती, इसे भी बताया गया। पुनरावृत्ति (पुनर्जन्म) न होने पर संसारी के अभाव की आशंका करके संसारी का यथार्थस्वरूप शरीरादि से विलक्षण

(पृथक्) है इसे भी दिखाया। अब जिस परमपद को प्राप्त होने पर संसारी की पुनरावृत्ति नहीं होती है, उसी परमेश्वर के स्वरूप को अर्थात् उक्त परमपद को अनन्त शक्तियों से सम्पन्न बताते हुए 'यदादित्यगतं' इत्यादि चार श्लोकों द्वारा उसका निरूपण करते हैं--**यत् आदित्यगतम् तेजः इत्यादि**—सूर्य में, चन्द्रमा में तथा अग्नि में स्थित जो अनेक प्रकार का तेज विश्व को प्रकाशित करता है उस समस्त तेज को तुम मेरा ही तेज समझो।

(२) **शंकरानन्द**—प्रयत्न करते हुए भी अकृत आत्माओं को (अशुद्धचित्त पुरुषों को) मेरे प्रसाद के अभाव से आत्मसाक्षात्कार नहीं होता है, अतः मुमुक्षु को मेरे प्रसाद की प्राप्ति के लिये मेरी उपासना अवश्य करनी चाहिए क्योंकि सर्वत्र मैं ही हूँ, इसप्रकार की बुद्धि से मेरी उपासना करने वालों को राग आदि दोष नहीं होते। केवल रागादि के अभाव होने पर चित्त का प्रसाद (प्रसन्नता) तथा तत्त्वज्ञान शीघ्र ही होता है, ऐसा बोधन करने के लिये भगवान् ही सबके आत्मारूप में विद्यमान हैं, ऐसा प्रतिपादन करते हैं--**आदित्यगतम् यत् तेजः**--आदित्य (सूर्य) में बाहर और भीतर सब ओर से व्याप्त होकर वर्तमान जो तेज **अखिलम् जगत् भासयते**—समस्त जगत् को प्रकाशित करता है **तथा यत् चन्द्रमसि**--एवं चन्द्र में स्थित जो तेज जगत् को प्रकाशित करता है तथा **यत् अग्नौ**--अग्निगत (अग्नि में स्थित) जो तेज जगत् को प्रकाशित करता है **तत् तेजः मामकम् विद्धि**--वह तेज मेरा ही है--ऐसा जानो। 'यदग्नेः लोहितं रूपं' (जो अग्नि का लालरूप है) वह तेज का है, इस न्याय (श्रुतिवाक्य) से आदित्य आदि का तेज के बिना पृथक् स्वरूप न रहने के कारण वे तेजस्वरूप ही हैं, यह सिद्ध हुआ। अग्नि का स्वरूपभूत तेज मेरा ही है, इसप्रकार कहने में राहु के सिर के समान 'मत्' शब्द और 'तेजः' शब्द इन दोनों का एक ही अर्थ है। इससे ज्ञात होता है कि सूर्य, चन्द्र आदि से (परमात्मा) ही हूँ, अतः वे मेरी विभूति होने से उनमें मेरी ही बुद्धि करनी चाहिए।

(३ **नारायणी टीका**—आदित्य (सूर्य), चन्द्रमा तथा अग्नि समस्त जागतिक वस्तुओं को प्रकाशित करते हैं तथापि जिस परम पद को प्राप्त करने से संसार में पुनः आगमन (पुनर्जन्म) नहीं होता है, उस परमपद को सूर्यादि कोई भी ज्योतिर्मय

पदार्थ प्रकाशित नहीं कर सकते हैं, यह भगवान् ने पहले ही 'न तद्भासयते सूर्यः (१५।६)' इत्यादि कह कर स्पष्ट किया है। बल्कि सूर्य, चन्द्र, अग्नि प्रभृत्ति भी उस परमपद (ब्रह्मज्योति–ब्रह्मस्वरूप शुद्ध चैतन्य सत्ता) से ही प्रकाशित होते हैं। सर्व भूतों के आत्मस्वरूप ब्रह्म सर्वत्र विराजमान रहने पर भी सात्त्विक गुण से उत्पन्न हुई निर्मलता या स्वच्छता के तारतम्य के अनुसार अनेक प्रकाश का भी तारतम्य देखा जाता है। सूर्यादि ज्योतिर्मय पदार्थों में सत्त्वगुण का अधिक प्रकाश होने के कारण अर्थात् सूर्यादि स्वच्छतर होने के कारण उनके तेज को भगवान् ने अपना तेज कहा है अर्थात् यद्यपि सब प्रपंच ही भगवान् की विभूति है। तथापि सूर्य, चन्द्र, अग्नि के तेज को अपनी **विशेष** विभूतियों के रूप से प्रतिपादित किया है। इनसब विशेष विभूतियों की श्रद्धापूर्वक भगवत्बुद्धि से उपासना करने पर मुमुक्षु उस परमपद में पहुँच सकता है जिसको कि प्राप्त होने पर संसारचक से जीव की मुक्ति होती है–यही कहने का तात्पर्य है। क्योकि राहु के सिर के समान वह केवल भगवान् का तेज ही नहीं है बल्कि वह तेज भगवत्स्वरूप भी है।

[भगवान् सर्वभूतों की आत्मा है, इसे और स्पष्ट करके कह रहे हैं—]

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥ १३ ॥

अन्वय—अहम् गाम् च आविश्य ओजसा भूतानि धारयामि, रसात्मकः सोमः भूत्वा अहम् सर्वाः औषधीः पुष्णामि च।

अनुवाद—मैं पृथ्वी में भी प्रविष्ट होकर अपनी शक्ति से (बल से) भूत समूहों को (समस्त वस्तुओं को) धारण करता हूँ तथा सर्वरस का स्वरूप जो चन्द्रमा हैं, वह चन्द्रमा होकर समस्त औषधियों का पोषण करता हूँ।

भाष्यदीपिका—मैं (सर्वात्मा परमेश्वर) **गाम् च आविश्य**—पृथ्वी में भी प्रविष्ट होकर **ओजसा**—अपने उस बल से [मायाशक्तिरूप बल से (श्रीधर)] अर्थात् कामना और आसक्ति से रहित मेरा ऐश्वर्य बल जो जगत को धारण करने के लिये पृथ्वी में (पृथ्वी देवता रूप से) प्रविष्ट है अतः जिस बल के कारण यह भारती

पृथ्वी नीचे [जल में (मधुसूदन)] नहीं गिर जाती है अथवा विदीर्ण नहीं होती है (फटती नहीं है)। [अर्थात् धूलि की मिट्टी के समान छिन्न-भिन्न नहीं होती (मधुसूदन)] उसी बल से **भूतानि धारयामि** – समस्त भूतों को (पृथ्वी के आधार पर रहने वाली चराचर समस्त वस्तुओं को) धारण करता हूँ। यही बात वेदमन्त्र से भी सिद्ध होती है—'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा' (तै० सं० ४ । १ । ८) अर्थात् जिससे द्युलोक और भारवती पृथ्वी दृढ़ है तथा 'स दाधार पृथिवीम्' (तै० सं० ४।१।८) अर्थात् वह पृथिवी को धारण करता है। अतः श्रीभगवान् ने ऊपर जो कुछ भी कहा है वह श्रुति-वाक्य से भी प्रमाणित होता है।

[देवतालोग भी ईश्वर के अधीन होकर ही (ईश्वर के बल से बलवान होकर ही) द्युलोक तथा पृथिवी का उद्धरण करने में समर्थ होते हैं (आनन्दगिरि)। उपर्युक्त दोनों वेदमन्त्रों से यही प्रतिपादित होता है कि भगवान् हिरण्यगर्भ भावापन्न होकर अर्थात् हिरण्यगर्भरूप से पृथ्वी को धारण करते हैं (मधुसूदन, आनन्दगिरि)] (**किं**) **स रसात्मकः सोमः भूत्वा**—तथा मैं ही रसस्वरूप चन्द्रमा होकर अर्थात् जो सब रसों का आत्मा है, रस ही जिसका स्वभाव है, जो समस्त रसों का आश्रय (स्थान) है वह सोम या चन्द्रमा है, वही अपने रस का संचार करके समस्त वनस्पतियों का पोषण किया करता है। अतः मैं उस सोम (चन्द्रमा) के रूप से **सर्वाः औषधीः पुष्णामि**—पृथ्वी में उत्पन्न होने वाली धान, जौ आदि समस्त औषधियों का पोषण करता हूँ अर्थात् उनको पौष्टिक एवं स्वादयुक्त किया करता हूँ।

टिप्पणी-(१) **श्रीधर**—तथा **गाम् ओजसा आविश्य**—पृथ्वी में बलपूर्वक प्रविष्ट होकर अर्थात् उसको अधिष्ठान (आश्रय) करके **अहम् च**—मैं ही **भूतानि**—चराचर (स्थावरजङ्गम) प्राणियों को **धारयामि**—धारणा करता हूँ (**किं**) **च** (**अहम् एव**)—तथा मैं ही **रसात्मकः सोमः भूत्वा**—रसमय सोम (चन्द्रमा) होकर **सर्वाः औषधाः**—गेहूँ आदि सब अन्न को **पुष्णामि**—संवर्धन करता हूँ अर्थात् सम्यक्प्रकार से (भलीभांति) बढ़ाता हूँ।

(२) **शंकरानन्द**—**अहम्**—मैं ईश्वर ही **ओजस**–अपरिमित मायाशक्ति के बल से **गाम् आविश्य**—जिस प्रकार जल अपने स्नेह से उत्पन्न हुई चिकनाई के बल से

दीवार में प्रविष्ट होकर उसको धारण करता है उसी प्रकार ही भूमि में (पृथ्वी में) प्रवेश करके (सर्वत्र व्याप्त होकर) **भूतानि च**—स्थावर जङ्गम सब भूतों को ही **धारयामि**—धारणा करता हूँ। जिस प्रकार वायु अपनी शक्ति से मेघमण्डल में प्रवेश करके जल को धारण करता है, उसी प्रकार मैं भी सब भूतों को धारण करता हूँ। यद्यपि इन्द्रियों का विषय न होने से मेघमण्डल में वायु दिखाई नहीं देता तथापि योगी की दृष्टि से और युक्ति से विचार करने पर वायु के बिना मेघ का पृथक्स्वरूप नहीं है, उसी प्रकार लोहे, अग्नि आदि पार्थिव पदार्थों में व्याप्य का व्यापक में अन्तर्भाव देखा जाता है अर्थात् मेरी शक्ति के द्वारा मुझसे व्याप्त हुई भूमि (पृथ्वी) का मुझसे अतिरिक्त पृथक् स्वरूप नहीं है। इसीलिये पृथ्वी में सर्वत्र 'मैं (परमात्मा) विद्यमान हूँ' इस प्रकार की बुद्धि करनी चाहिए, यही कहने का अभिप्राय है। **रसात्मकः सोमः च भूत्वा**—तथा रसात्मक (अमृत रस स्वरूप या जलस्वरूप) जो सोम (चन्द्रमा) है, उस चन्द्ररूप से स्थित होकर **सर्वाः औषधीः पुष्णामि**—धान, यव (जौ), गोधूम (गेहूँ) आदि और वृक्ष, लता, तृण, गुल्म आदि सब औषधियों को पुष्ट करता हूँ (पुष्टि से सम्पन्न करता हूँ)। इससे सूचित होता है कि चन्द्र तथा चन्द्रामृत रस से सब औषधियां पुष्ट होती हैं एवं वे सभी मेरी ही विभूतियां हैं। अतः उनमें भी मेरी (परमब्रह्म परमात्मा की) बुद्धि करनी चाहिए।

(३) **नारायणी टीका**—अब भगवान् अपनी कुछ और विभूतियों का वर्णन करते हुए कह रहे हैं कि यह पृथ्वी तो धूलि की मिट्टी के समान है इसके एक परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ संयोग मेरे बल (मायाशक्ति) से ही सम्पन्न होता है, नहीं तो यह पृथ्वी धूलि-करण के समान तितर-बितर हो जाती। ग्रहों के परस्पर आकर्षण से पृथ्वी शून्य आकाश में जो घूम रही है वह आकर्षणशक्ति भी मेरी ही है। अतः मेरी कोई (प्रयोजनसिद्धि) वासना नहीं है क्योंकि मैं पूर्णस्वरूप हूँ, अतः जिस ईश्वरी शक्ति से मैं पृथ्वी के कण कण में प्रविष्ट होकर उसे धारण कर रहा हूँ वह भी काम तथा राग से विवर्जित है। यदि मैं पृथ्वीको अपनी शक्ति से धारण नहीं करता तो या तो वह रसातल में डूब जाती अथवा सूर्य की ओर उत्क्षिप्त होकर भस्मीभूत हो जाती और नहीं तो परमाणुओं के संयोग के अभाव से छिन्न-भिन्न होकर शून्य में लय हो

जाती। अतः मैं ही पृथ्वीस्थित सर्वभूतों को (चराचर समस्त वस्तुओं को) धारण किये हुए हूँ। सभी प्राणी अन्न या औषधि से जीवन धारण करने में समर्थ होते हैं। सोम या चन्द्रमा से स्खलित हुए अमृतरूप जलबिन्दु ही समस्त औषधियों को परिपुष्ट करते हैं क्योंकि वह अमृत ही समस्त औषधियों का रस है एवं उससे ही समस्त औषधियाँ वृद्धि को प्राप्त तथा शक्ति-सम्पन्न होती हैं मैं ही वह सर्वरस स्वरूप अर्थात् सर्व रस का आश्रयरूप सोम (चन्द्रमा) होकर सर्व औषधियों की (धान, वृक्ष, लता) इत्यादि की) पुष्टि सम्पादन करता हूँ अतः पृथ्वी अथवा पृथ्वी में जो कुछ वस्तुएँ प्रतीत होती हैं एवं चन्द्रमा तथा चन्द्रमा से परिपुष्ट जितनी औषधियाँ देखी जाती हैं उनके प्रतिपरमाणु में 'मैं' (परमपदस्वरूप परमात्मा) विद्यमान हूँ, ऐसा निश्चय कर जो शुद्धचित्त विवेकी पुरुष उपासना करता है, वह भी उस परमपद को ही प्राप्त कर लेता के जिससे संसार में पुनः आवर्तन नहीं होता—यही यहाँ कहने का तात्पर्य है।

[भगवान् किस प्रकार से सर्वभूतों का आत्मा है यह और स्पष्ट करके कह रहे हैं—]

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

अन्वय—अहम् (एव) वैश्वानरः भूत्वा प्राणिनाम् देहम् आश्रितः प्राणापानसमायुक्तः (सन्) चतुर्विधम् अन्नम् पचामि।

अनुवाद—मैं वैश्वानर अग्नि होकर प्राणियों के शरीर में प्राण और अपान से सम्यक्प्रकार से युक्त हाकर (प्रदीप्त होकर) चार प्रकार के अन्न को पचाता हूँ।

भाष्यदीपिका—**अहम् (एव)**—मैं ईश्वर ही **वैश्वानरः भूत्वा**—उदर में (पेट में) रहने वाला जठराग्नि होकर [अर्थात् 'अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तःपुरूषे येनेदमन्नं पच्यते' (बृह० उ० ५।९।१) यह अग्नि वैश्वानर है जो कि प्रत्येक पुरुष के देह-मध्य में प्रविष्ट होकर स्थित है एवं जिसके प्रभाव से यह भुक्त (खाया हुआ) अन्न पचता है इस श्रुति द्वारा जिसको प्रतिपादित किया गया है वह वैश्वानर होकर (जाठर अग्नि होकर) **प्राणिनाम् देहम् आश्रितः**—समस्त प्राणियों के शरीर को आश्रित

कर अर्थात् शरीर में प्रविष्ट होकर **प्राणापानसमायुक्तः**—प्राण और अपानवायु से संयुक्त होकर [जाठर अग्नि को प्रदीप्त करने वाले प्राण और अपान से संयुक्त (प्रज्वलित) होकर (मधुसूदन)] **चतुर्विधम् अन्नम् पचामि**—प्राणियों के खाये हुए भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य इन चार प्रकार के अन्न को पचाता हूँ। [इनमें जो अन्न (जैसे पुआ आदि) दांतो से काट-काट कर खाये जाते हैं वे भक्ष्य और चर्व्य कहे जाते हैं। जो केवल जीभ से विलोकर निगल लिये जाते हैं (यथा दाल, भात आदि) वे भोज्य कहलाते हैं, जो जीभ पर डालकर रसास्वादन करते हुए (चाखते हुए) निगल लिये जाते हैं (यथा पिघला हुआ गुड़ आदि) वे लेह्य कहे जाते हैं तथा जिन्हें दाढ़ से दबाकर उनका रस निकालते हुए शेष अंश का त्याग किया जाता है (जैसे ईख आदि) वे चोष्य कहे जाते हैं।] 'जो भोक्ता (खानेवाला) है वह वैश्वानर अग्नि है और जो भोज्य (खाया जाने वाला) अन्न है वह सोम है'। सुतरां यह समस्त जगत अग्नि और सोमस्वरूप है, इस प्रकार (भोजन करने के समय) देखने वालों को (ध्यान करनेवालों को) अन्नदोष लिप्त नहीं करता—ऐसा भी इस श्लोक का तात्पर्य समझना चाहिए।

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—तथा **अहम् वैश्वानरः भूत्वा**—मैं वैश्वानर जठराग्नि होकर **प्राणिनाम् देहम् आश्रितः**—प्राणियों के शरीर के अन्दर प्रविष्ट होकर **प्राणापानसमायुक्तः**—उस शरीर को उद्दीप्त करने वाले प्राण और अपान दोनों से सम्यक्प्रकार से युक्त होकर अर्थात् दोनों के सहित **चतुर्विधम् अन्नम् पचामि**—प्राणियों के खाये हुए भक्ष्य, भोज्य, लेह्य तथा चोष्य इन चार प्रकार के अन्न को पचाता हूँ।

[उनमें जो दांतों द्वारा खण्ड-खण्ड करके भक्षण किये जाते हैं वे पुआ आदि अन्न भक्ष्य हैं तथा जो केवल जिह्वा से विलोडन करके निगले जाते हैं वे दूध आदि भोज्य हैं और जो जिह्वा पर डालकर क्रमशः रसास्वादनपूर्वक निगला जाता है वह द्रवीभूत (पिघला हुआ) गुड़ आदि अन्न लेह्य है एवं जो दाढ़ आदि द्वारा चबाकर उससे रस के अंश को निगला जाता है तथा अवशिष्ट अंश को (बचे हुए अंश को) त्याग दिया जाता है वह ईख आदि अन्न चोष्य हैं—इस प्रकार अन्न के चार भेद हैं।]

(२) **शंकरानन्द—अहम् वैश्वानरः भूत्वा**—'अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते' [अर्थात् जो यह पुरुष के भीतर है और जिससे यह अन्न पच जाता है वह अग्नि वैश्वानर है] इस श्रुति में जो जाठर अग्नि कहा गया है मैं उस अग्नि के रूप से अर्थात् वैश्वानररूप से **प्राणिनाम् देहम् आश्रितः**—सब प्राणियों की देह में अर्थात् उदर में स्थित होकर ['तस्य मध्ये महानग्निर्विश्वार्चिर्विश्वतोमुखः' (उसके मध्य में विश्वार्चि, विश्वतोमुख, महान् अग्नि है) इससे तथा 'नाभ्यामुपरि तिष्ठति' (नाभि के ऊपर स्थित है) इस श्रुति से सुना जाता है कि वैश्वानर अग्नि प्राणियों के उदर में स्थित होकर रहता है। मैं वैश्वानररूप से इस प्रकार प्राणियों के उदर में स्थित होकर] **प्राणापानसमायुक्तः**—अन्न के पाक के (पचन) के सहकारी उच्छवासरूप प्राण एवं निश्वासरूप अपान से भलीभांति युक्त होकर अर्थात् उनसे प्रज्वल्यमान होकर **चतुर्विधम् अन्नम् पचामि**—भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य भेद से प्राणियों के द्वारा भुक्त (खाये हुए) चार प्रकार के अन्न को पचाता हूँ अथवा 'प्राणिनाम्' (प्राणिसमूह का) यह शब्द सामान्य रूप से ग्रहण करने पर श्लोक का अर्थ इस प्रकार होता है—समस्त प्राणियों के खाने योग्य अन्न चार प्रकार के हैं, यथा—मनुष्य आदि का पार्थिव, चातक आदि का आप्य, बालखिल्य आदि का तैजस और सर्प आदि का वायव्य अन्न है। ['अद्यत इति अन्नम्' अर्थात् जो खाया जाता है वह अन्न है] प्राणियों के द्वारा भुक्त पार्थिव, आप्य, तैजस, और वायव्यरूप से चार प्रकार के अन्न को उन-उन प्राणियों के जठर में स्थित होकर मैं पचाता हूँ, यही कहने का अभिप्राय है। इससे यह सूचित होता है कि अग्निस्वरूप मुझसे पैर से लेकर मस्तक तक व्याप्त हुए प्राणियों का मुझसे अतिरिक्त पृथक् स्वरूप (सत्ता) न होने के कारण मुझसे व्याप्त उन उन प्राणियों में सर्वत्र मेरी बुद्धि करनी चाहिए अर्थात् प्रत्येक प्राणीरूप में मैं ही विद्यमान हूँ, इस प्रकार की बुद्धि से मेरी उपासना करनी चाहिए।

(३) **नारायणी टीका**—भगवान् अपने श्रीमुख से प्रकाश कर रहे हैं कि मेरी विभूतियाँ अपार हैं। मैं ही भोक्ता हूँ और मैं ही अन्न हूँ तथा मैं ही वह वैश्वानर जाठर अग्नि हूँ जिससे खाये हुए भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य अथवा पार्थिव, आप्य, तैजस तथा वायव्य—इन चारों प्रकार के अन्न पचते हैं। मैं ही प्राण तथा अपानवायु से

संयुक्त हूँ जो उद्दीप्त (प्रज्वलित) होकर वैश्वानर अग्नि के द्वारा भुक्त अन्न के परिपाक में सहायक होता है [वेद में कहा है कि वैश्वानर अग्नि भोक्ता है एवं भोज्य अन्न ही सोम है। १३ वें श्लोक में भगवान् स्वयं ही रसात्मक सोम होकर अन्न एवं औषधियों की पुष्टि करते हैं, यह कहा है। अतः भोक्ता एवं भोग्य अन्न दोनों ही भगवान् की विभूतियाँ हैं, यह १३ एवं १४ वें श्लोक में स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार भोक्ता एवं भोग्य अन्न अर्थात् सभी भोग्य वस्तुएँ भगवान् की ही अग्नि तथा सोमरूप से विभूतियाँ हैं, इस प्रकार जो ध्यान रखता है, उसे अन्न दोष या किसी वस्तु के भोग का दोष लिप्त नहीं कर सकता।] अणुगीता में भी ऐसा ही कहा है—परमात्मा अग्निस्वरूप है, सभी देवता इस अग्नि में प्रतिष्ठित हैं, वेद उस परमात्मा की आज्ञा हैं एवं उस वेद के प्रभाव से ही ब्रह्मनिष्ठ पुरुष को अति उत्कृष्ट ज्ञान (तत्त्वज्ञान) उत्पन्न होता है। तम तथा रजोगुण उस अग्निरूप परमात्मा के धूम तथा भस्मस्वरूप हैं। सभी जीव ज्ञान से या अज्ञान से उस अग्निरूपी परमात्मा में अन्नादि भोज्यपदार्थ आहुतिरूप से प्रदान करते हैं। प्राण तथा अपान उस हुताशनरूपी (अग्निरूपी) परमात्मा के दो आज्य (यज्ञीय घृत) स्वरूप हैं।

[भगवान् सर्वात्मा होने के कारण सर्व व्यवहार का भी आश्रय होता है यह अब कहते हैं—]

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

अन्वय—अहम् सर्वस्य हृदि संनिविष्टः, मत्तः स्मृतिः ज्ञानम् अपोहनम् च, सर्वैः वेदैः च अहम् एव वेद्यः अहम् वेदान्तकृत् , अहम् एव वेदविद् च।

अनुवाद—मैं सभी के हृदय में अन्तर्यामी रूप से सम्यक् प्रकार निविष्ट (स्थित) हूँ; समस्त प्राणियों के पूर्वानुभूत विषय की स्मृति और ज्ञान मुझसे ही उत्पन्न होते हैं एवं इन दोनों का नाश भी मेरे से ही होता है। मैं ही समस्त वेदों से वेद्य (जानने योग्य) हूँ तथा मैं ही वेदान्तकर्ता अर्थात् वेदव्यासादि रूप से वेदान्त अर्थ के सम्प्रदाय का प्रवर्तक हूँ। केवल इतना ही नहीं, मैं ही वेदवेत्ता भी हूँ अर्थात् कर्मकाण्ड, उपासना-

काण्ड तथा ज्ञानकाण्डमय मन्त्रों एवं ब्राह्मणरूप समस्त वेद के अर्थ को जानने वाला भी मैं ही हूँ।

भाष्यदीपिका अहम्—मैं (परमात्मा) आत्मारूप से **सर्वस्य**—समस्त प्राणिमात्र का अर्थात् ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त प्राणि समुदाव की **हृदि**—बुद्धि में (अन्तःकर में) **संनिविष्टः**—सम्यक् प्रकार से प्रवेश किए हुए हूँ, अर्थात् उसमें स्थित हूँ। ['स एव इह प्रविष्टः' (वह यह जीव यहाँ प्रवेश किया हुवा है—बृह० उ० १।४।६) तथा 'अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (इस जीव रूप से प्रविष्ट होकर मैं नाम-रूपों का विभाग करता हूँ—छा० उ० ६।३।२) इन श्रुतियों से भी उक्त वाक्य सिद्ध होता है। (मधुसूदन)] **मत्तः स्मृतिः ज्ञानम् अपोहनम् च**—मैं आत्मारूप से सबके हृदय में स्थित हूँ, इस कारण से ही स्मृति, ज्ञान और उनका अपोहन (लोप या नाश) मुझसे ही होता है अर्थात् जिन पुण्यकर्मा प्राणियों को उनके पुण्य कर्म के अनुसार ज्ञान और स्मृति प्राप्त होते हैं तथा जिन पापाचारियों के ज्ञान तथा स्मृति का उनके पापकर्म के अनुसार लोप होता है, वह मुझसे ही होता है। [अतः मुझ आत्मारूप हेतु से ही प्राणियों को यथायोग्य स्मृति (अर्थात् इस जन्म में पहले अनुभव किये हुए विषयों से सम्बन्ध रखने वाली वृत्ति तथा योगियों को जन्मान्तर में अनुभव किये हुए विषयों से भी सम्बन्ध रखने वाली वृत्ति) होती है। तथा मुझसे ही विषय और इन्द्रिय के संयोग से होने वाला ज्ञान होता है, योगियों को तो देश और काल से व्यवहित विषय सम्बन्धी ज्ञान भी होता है। इसप्रकार जिनका चित्त काम, क्रोध एवं शोकादि से व्याकुल है उन्हे अपोहन (स्मृति तथा ज्ञान का लोप) भी मुझसे ही होता है (मधुसूदन)]।

श्लोक के प्रथम अंश में श्रीभगवान् अपनी जीवरूपता का वर्णन कर द्वितीय अंश में अपनी ब्रह्मस्वरूपता का भी वर्णन कर रहे हैं—**सर्वैः वेदैः च**—यद्यपि वेद में इन्द्रादि देवताओं की स्तुति की जाती है तथापि सर्वात्मक होने के कारण समस्त वेदों द्वारा मैं परमात्मा ही जानने योग्य हूँ क्योंकि समस्त वेद में जो कुछ कहा गया है उसका प्रधान उद्देश्य है मेरे यथार्थस्वरूप का परिचय देना अर्थात् मैं ही सब प्राणियों की आत्मा हूँ, इस तत्त्व को ज्ञात करना। **अहम् एव वेद्यः**—अतः इन्द्रादि

देवताओं के प्रकाशक समस्त वेदों के द्वारा भी मुझे सर्वात्मक रूप से प्रतिपादित करने के कारण मैं ही जानने योग्य हूँ। वेद के मन्त्रवर्ण से भी यही सिद्ध होता है यथा—

'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरूत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः'॥

अर्थात् आत्मा को ही इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि कहते हैं। वही सुन्दर पंखों वाला दिव्य गरुड़ है। उसी को अग्नि, यम और पवन भी कहते हैं। इसप्रकार एक होने पर भी ब्राह्मण लोग उसका अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं। फिर 'एष उ ह्येव सर्वे देवाः' अर्थात् यह ही समस्त देवतारूप है, इस श्रुति से भी यही प्रमाणित होता है। **अहम् वेदान्तकृत्**—मैं ही वेद व्यासादिरूप से वेदान्त अर्थ के सम्प्रदाय का प्रवर्तक हूँ। केवल इतना ही नहीं **अहम् एव च वेदविद्**—मैं ही वेदवेत्ता भी हूँ (वेद के अर्थ को समझने वाला भी मैं ही हूँ अर्थात् कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्डमय एवं ब्राह्मणरूप समस्त वेद के अर्थ को जानने वाला भी मैं ही हूँ। अतः मैं ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ, यह ठीक ही कहा है।)

टिप्पणी (१) श्रीधर—अहम् सर्वस्य च हृदि संनिविष्टः—समस्त प्राणिमात्र के हृदय में सम्यक् प्रकार से अन्तर्यामीरूप से मैं प्रविष्ट हूँ। अतः **मत्तः स्मृतिः ज्ञानम् अपोहनम् च**—कारणरूप मुझ परमात्मा से ही प्राणिमात्र के पहले अनुभव किये हुए पदार्थों की स्मृति होती है तथा विषय एवं इन्द्रियों के संयोग से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह भी मुझसे ही होता है। तथा अपोहन अर्थात् उस स्मृति और ज्ञान दोनों का लोप भी मुझसे ही होता है। **सर्वैः वेदैः च अहम् एव वेद्यः**—समस्त वेदों में जिन-जिन देवतादि की उपासना का विधान है उन-उन देवतादि के रूप से मैं ही जानने योग्य हूँ। **अहम् एव वेदान्तकृत्**—मैं ही वेदान्त का कर्ता अर्थात् उसके सम्प्रदायका प्रवर्तक (ज्ञान देने वाला गुरु भी) मैं ही हूँ तथा **वेदविद् एव च अहम्**—वेद के अर्थ को जानने वाला भी मैं ही हूँ।

(२) शंकरानन्द—उक्त प्रकार से जाठर अग्नि स्वरूप ईश्वर से व्याप्त सब प्राणी ईश्वर की विभूति होने से ईश्वरस्वरूप हैं, ऐसा सिद्ध होने पर भी भ्रम एवं प्रमाद से

भी यह शिष्ट है, यह धृष्ट है, यह शूद्र है, यह पुल्कष (चाण्डाल) है, ऐसी भेद-बुद्धि ईश्वर के उपासक मुमुक्षुओं को नहीं करनी चाहिए, इसलिये उनकी सर्वत्र परमेश्वर-त्वबुद्धि को दृढ़ करने के लिये फिर समस्त प्राणी मुझसे व्याप्त होने के कारण मेरे स्वरूप ही हैं एवं मेरी उपासना करके शुद्ध चित्तवालों को जो ज्ञान उत्पन्न होता है तथा उनसे विपरीत अशुद्धचित्तवालों को जो अज्ञान दृष्ट होता है, वह मुझसे ही सिद्ध होता है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—जीवलोक (संसार) में मेरा ही अंश जीव है (गीता १५।७) फिर 'ईश्वरां जीवकलया प्रविष्टः' (ईश्वर जीवरूप कला से प्रविष्ट है) इस प्रकार से शास्त्रों में कही हुई रीति से **अहम् च सर्वस्य हृदि संनिविष्टः**—ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त सभी प्राणियों के हृदय में (बुद्धिगुहा में) मैं (परमात्मा) क्षेत्रज्ञरूप से सन्निविष्ट (सन्निहित) होकर स्थित हूँ। सन्निवेश सबके हृदय में समान है, यह सूचित करने के लिये 'चकार' है। समस्त प्राणिवर्ग मैं ही हूँ, यही भगवान् के कहने का तात्पर्य है। अतः यह सूचित किया है कि भेद-दृष्टि का अवकाश नहीं है। जो 'सब परमेश्वर ही है,' इस प्रकार सर्वत्र ईश्वर बुद्धि से परमेश्वर की उपासना करते हैं उनके और जो ऐसा नहीं करते हैं उनके फल का भेद बताते हैं। **मत्तः स्मृतिः ज्ञानम् अपोहनम् च**—मुझसे (अर्थात् परमेस्वररूप मेरी उपासना से शुद्ध मनवालों को शास्त्र और आचार्य के अनुग्रह से) स्मृति ['स आत्मा', 'तत्त्वमसि' ('वह आत्मा' 'वह तुम हो') इस प्रकार गुरुओं के द्वारा वह निर्विशेष अर्थात् तीन प्रकार के (स्थूल, सूक्ष्म, कारण इन तीनप्रकार के) परिच्छेद से शून्य आत्मा तुम हो, ऐसा आत्मस्वरूप का बोधन कराने के पश्चात् उस आत्मा में 'वही मैं हूँ' इस प्रकार अपनी आत्मा की स्मृति] होती है। और 'यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ' इसप्रकार सबका एवं अपना ब्रह्ममात्रत्वज्ञान होता है। परन्तु मेरी उपासना से रहित, रागादि दोषों से दूषित मलिन-बुद्धि वाले पुरुषों को मुझसे (ईश्वर से ही) अपोहन (स्मृति एवं ज्ञान इन दोनों का असम्भव अर्थात् अभाव) होता है। **अहम् वेदान्तकृत्**—'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' [जो ब्रह्मा की पहले सृष्टि (सर्जन) करता है और जो उसे वेदों के तत्त्व को ज्ञात करा देता है] इस श्रुति वाक्य के अनुसार वेदान्त तत्त्व का अनुभव करने में मैं ही अनुग्रह करता हूँ अर्थात् ब्रह्मविद्या का उपदेश मैं ही हूँ

अथवा लोक में शिष्य के लिये आचार्यरूप से वेदान्त के अर्थ का प्रकाशन करने वाला मैं ही हूँ तथा **वेदविद् च अहम्**—समस्त वेदों का अर्थ निर्विशेष परमब्रह्म है। जो मेरे तथा गुरु के अनुग्रह से उस निर्विशेष परमब्रह्म को आत्मरूप से जानता है वही वेदविद (वेद के यथार्थ अर्थ को जानने वाला अर्थात् ब्रह्मवेत्ता) है [ज्ञानस्वरूप आत्मा ही जानने वाला है।] अतः वेदवेत्ता मैं ही हूँ। 'सबके हृदय में मैं सन्निविष्ट हूँ' इससे समस्त प्राणिमात्र में ही आत्मा की व्याप्ति रहने के कारण वे भी अपने स्वरूप ही हैं, ऐसा सिद्ध होने पर भी 'वेदान्तकृत् और वेदविद् मैं ही हूँ' यह विशेष उक्ति मूढ़ों को तथा अमूढ़ों को (अज्ञानी को तथा ज्ञानी को) वेदान्त के उपदेशक गुरु में और ब्रह्मविद् में भी परमेश्वरत्वबुद्धि करना अवश्य कर्तव्य है, ऐसा बोधन करने के लिये है। 'यदादित्यगतं तेजः' (गीता १५।१२) इत्यादि से मुमुक्षु की उपासना के लिये ईश्वर की विभूति का प्रतिपादन करने पर वही परमेश्वर का पारमार्थिकरूप है ऐसी बुद्धि हो सकती है। अतः ईश्वर के यथार्थ स्वरूप का बोधन करने के लिये कहते हैं—**सर्वैः वेदैः च अहम् एव वेद्यः**—'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (सब वेद जिस पद को कहते हैं) इस न्याय से सम्पूर्ण ऋगादि वेदों से (यानी वेदान्तों से) वेद्य 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (सत्य ज्ञान अनन्त स्वरूप ब्रह्म), 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (ब्रह्म विज्ञान तथा आनन्दस्वरूप है), 'आनन्दो ब्रह्म' (आनन्द ही ब्रह्म), 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वं' (वह यह ब्रह्म अपूर्व है), 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमप्राणम मुखमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमचक्षुष्कमनामगोत्रं' (ब्रह्म स्थूल नहीं, सूक्ष्म नहीं, ह्रस्व नहीं वह प्राणरहित, मुखरहित, श्रोत्ररहित, वाणीरहित, मनरहित, तेजरहित, चक्षुरहित, नामरहित, गोत्ररहित), 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं' (वह अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय है) 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं' (वह निष्कल, निष्क्रिय, शान्त है), 'नित्यं शुद्धं बुद्धं मुक्तं सत्यं सूक्ष्मं परिपूर्णमद्वयं सदानन्दचिन्मात्रं शान्तं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः' (ब्रह्म नित्य, शुद्ध, मुक्त, सत्य, सूक्ष्म, परिपूर्ण, अद्वय, सदानन्द, चिन्मात्र, शान्त तथा चतुर्थ माना जाता है, वही आत्मा है, उसे जानना चाहिए), 'तत्वमसि' (वही तुम हो) इत्यादि श्रुति वाक्यों से वेद्य (जानने योग्य) जो निर्विशेष, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव सच्चिदानन्द एकरस अद्वितीय परमात्मा है वही मैं हूँ। आदित्यगत तेज आदि रूप से

जिसप्रकार मेरे मायोपाधिक स्वरूप का वर्णन किया गया है वह परमार्थतः मैं नहीं हूँ—यही कहने का अभिप्राय है।

(३) **नारायणी टीका**—भगवान् सर्वभूतों के आत्मा है एवं उनका आश्रय करके ही जीव का सर्व व्यवहार निष्पन्न होता है, यह अब स्पष्ट करने के लिये श्रीभगवान् कहते हैं कि—मैं सबके हृदय में सम्यक्रूप से प्रविष्ट होकर स्थित हूँ। प्रश्न होगा कि भगवान् जब सर्वव्यापी है तब सब प्राणियों के कण-कण में वह अवश्य ही व्याप्त होगा एवं ऐसा होने पर केवल हृदय में (बुद्धि में) 'मैं संनिविष्ट हूँ' ऐसा क्यों कहा ? इसके उत्तर में कहा जायगा कि जैसे किसी पुरुष का मुख घर की समस्त दीवारों के सामने रहते हुए भी उसका प्रतिबिम्ब नहीं दिखाई पड़ता है परन्तु दीवार स्थित छोटे से एक स्वच्छ दर्पण में उसका प्रतिबिम्ब प्रतिफलित होता है, उसी प्रकार बुद्धि अहंकार के सात्त्विक गुण से उत्पन्न होने के कारण जिस समय शास्त्रविहित कर्मादि तथा वेदान्त वाक्यादि का श्रवण मनन निदिध्यासन द्वारा बुद्धि अति निर्मल होती है तब आत्मा (जो देह में सर्वत्र ही अवस्थित है वह) स्वतः ही उस बुद्धिरूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित होता है अर्थात् जीव के अनुभव में प्रकट होता है। यही 'हृदि' शब्द का तात्पर्य है। फिर प्रश्न होगा कि आत्मा यदि सबके हृदय में प्रविष्ट होता है एवं मृत्यु के पश्चात् उससे निकल जाता है तब तो आत्मा सक्रिय तथा विकारी होगा ? इसके उत्तर में कहा जायगा—जिसप्रकार सिनेमा में श्वेतवस्त्र खण्ड (Whitescreen) प्रत्येक दृश्य वस्तु में प्रविष्ट है परन्तु उन सब दृश्यवस्तुओं के आविर्भाव तथा तिरोभाव में उस वस्त्रखण्ड की कोई क्रिया या विकार नहीं होता है अर्थात् वह सिनेमा (Cinema) के पहले एवं पीछे सदा ही स्थिर एवं अचल रहता है, उसीप्रकार आत्मारूपी अधिष्ठान में जो सिनेमा के समान सर्वभूतों की सृष्टि, स्थिति एवं लयरूपी नाटक देखा जाता है उसमें आत्मा की कोई क्रिया या विकार नही होता है क्योंकि वह नित्य है, सर्वव्यापी है, अचल है एवं निष्क्रिय तथा अविकारी है। तथापि जिसप्रकार सिनेमा में दृष्ट वस्तु की श्वेत वस्त्रखण्ड की सत्ता से कोई पृथक् सत्ता नहीं है अर्थात् समस्त दृश्यवस्तु श्वेत वस्त्रात्मक है, उसीप्रकार सर्वप्राणियों की भी ब्रह्मस्वरूप आत्मा के बिना कोई पृथक् सत्ता नहीं है। इसलिये भगवान् या परमब्रह्म सभी प्राणियों का आत्मा है तथा

अन्तर्यामी है अर्थात् प्रत्येक जीव के अहं (मैं) पद का यथार्थस्वरूप है एवं उस चैतन्यस्वरूप आत्मज्योति से ही बुद्धि चेतनायुक्त होकर सर्वकार्यों का सम्पादन कर रही है, इसे सूचित करने के लिये भगवान् ने कहा—'अहं सर्वस्य हृदि संनिविष्टः'। फिर आत्मा को अधिष्ठान करके ही सर्वकर्म सम्पन्न होते हैं, इसलिये वह ब्रह्मस्वरूप आत्मा सर्वकर्मों का अध्यक्ष तथा जगत्रूपी यन्त्र का एकमात्र सूत्रधार भी है। इसकारण से अर्थात् आत्मा की चैतन्यसत्ता को अवलम्बन करके ही स्मृति, ज्ञान एवं स्मृति तथा ज्ञान का अभाव होते हैं अतः आत्मा से अर्थात् आत्मा विद्यमान रहने पर ही स्मृति तथा ज्ञान का उदय एवं उन दोनों का लोप देखा जाता है। साधारणतः इस जन्म में पूर्व में जिस वस्तु का अनुभव हुआ था तद्विषयक एक विशेष मनोवृत्ति का समय-समय पर उदय होता है, उसे स्मृति कहते हैं। फिर योगीजनों के पूर्व जन्म में जिन-जिन विषयों का अनुभव हुआ था उन विषयों का स्मरण भी स्मृति है। स्मृति के विषयों का अनुभव करने वाले देह-इन्द्रियों का तथा बाह्य अवस्था का पूर्णतया परिवर्तन होने पर भी इस जन्म में भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में (तथा पूर्व जन्म से भी) एक ही आत्मा के समभाव से विद्यमान रहने के कारण उक्त दोनों प्रकार की स्मृतियों का होना सम्भव होता है। इसलिये सर्वात्मा भगवान् ने जो कहा है कि मुझसे स्मृति होती है, यह कहना युक्ति-युक्त ही है। केवल लौकिक स्मृति ही नहीं परन्तु गुरुमुख से तत्वमसि अर्थात् तुम ही वह निर्विशेष (सर्वोपाधिरहित) शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा हो, ऐसा सुनकर मनन तथा निदिध्यासन द्वारा शुद्ध बुद्धि में आत्मस्वरूप परमेश्वर का अनुभव करने पर ही अर्थात् उस परमेश्वर के अनुग्रह से ही जीव की 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) इस प्रकार की स्मृति दृढ़भाव से रहती है। अतः वह स्मृति भी परमेश्वर से ही होती है यह कहना भी ठीक है एवं साथ ही साथ 'यह सब कुछ एवं मैं ब्रह्ममात्र ही हूँ' इस प्रकार ब्रह्ममात्रत्व ज्ञान भी उस परमेश्वर से ही होता है, ऐसा कहना भी युक्ति-युक्त ही है। तात्त्विकज्ञान के बिना व्यावहारिक ज्ञान दो प्रकार के हैं—(१) किसी भी विषय के साथ इन्द्रियों का संयोग होने पर उसके विषय में जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे 'वस्तुविषयक' ज्ञान कहा जाता है। तथा (२) योगीजन के विप्रकृष्ट (दूरवर्ती) देश अथवा काल में स्थित विषय के सम्बन्ध में अथवा विप्रकृष्ट

(अप्रत्यक्ष) व्यक्ति या वस्तु के स्वभाव के सम्बन्ध में जो ज्ञान देखा जाता है उसे 'अलौकिक' ज्ञान कहते हैं ये दोनों प्रकार के ज्ञान चैतन्यस्वरूप आत्मा के विद्यमान रहने पर ही सम्भव होते हैं। अतः वे भगवान् से ही होते हैं, यह कहना भी ठीक ही है क्योंकि वे आत्मसत्ता से ही प्रकाशित होते हैं। उसी प्रकार बुद्धि मलिन रहने के कारण लौकिक, अलौकिक या आत्मस्वरूप सम्बन्धी स्मृति तथा ज्ञान का जो अभाव या विलोप (विशेषभाव से लोप) होता है वह भी आत्मस्वरूप भगवान् से ही होता है। सुकृतिशाली पुरुष के पुण्यकर्मों के फल से जब बुद्धि स्वच्छ एवं शुद्ध होती है तभी स्मृति तथा ज्ञान की उत्पत्ति होती है परन्तु दुष्कृतिशाली पुरुष के पापकर्मों के फलरूप से बुद्धि मलिन रहने के कारण स्मृति तथा ज्ञान का अभाव या लोप होता है। अतः स्मृति तथा ज्ञान का आविर्भाव तथा तिरोभाव जीव के धर्म तथा अधर्म से ही होता है। अखण्ड चैतन्यस्वरूप आत्मा के प्रकाश से ही उनके आविर्भाव या तिरोभाव प्रकाशित (प्रतीत) होते हैं। अतः इस विषय में भगवान् का किसी के प्रति वैषम्य नहीं है, यही कहने का तात्पर्य है।

श्लोक के प्रथम पाद में श्रीभगवान् अपने जीवभाव का प्रतिपादन कर अब द्वितीय पाद में अपनी ब्रह्मस्वरूपता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि यद्यपि वेद में बहुनामरूपात्मक देवताओं की स्तुति की गई है एवं उनकी उपासनाओं का भी विधान किया गया है तथापि सभी वेदों ने यह स्पष्ट करके प्रतिपादित किया है कि एकमात्र सत् पदार्थ मैं ही हूँ एवं सभी देवताओं के नाम तथा रूप से एकमात्र मेरी ही विभूतियों का वर्णन किया गया है ["एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति"]। सभी वेदों ने मेरे अखण्ड, अद्वय, शुद्ध, नित्य, मुक्त स्वरूप का निर्णय कर मैं ही सर्वभूतों का आत्मा अर्थात् सर्वभूतों की सत्तारूप से मैं ही विद्यमान हूँ, अतः मैं (परमब्रह्म परमात्मा) ही जीव के लिये एकमात्र वेद्य (जानने योग्य तत्त्व हूँ, ऐसा स्पष्ट रूप से निश्चय किया। इसलिये श्रुति कहती है—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्' (बृह. उ.) अर्थात् हे प्रिय मैत्रि ! एकमात्र आत्मा ही देखने के योग्य, सुनने के योग्य एवं निश्चित-रूप से ध्यान करने योग्य है। इस आत्मा के श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन से

स्वरूप का विज्ञान (विशेषज्ञान) होने पर 'मैं चिदात्मा ब्रह्मस्वरूप हूँ', इस प्रकार दर्शन से (साक्षात् अनुभव द्वारा) ही विश्वप्रपंच का (समस्त विश्व पदार्थों का) यथार्थ स्वरूप ज्ञात होता है। मैं परमेश्वर ही वेदव्यासादिरूप से 'वेदान्तकृत्' हूँ अर्थात् वेदान्त के अर्थ के (वेदान्ततत्त्व के) सम्प्रदाय का प्रवर्तक हूँ अर्थात् गुरु-शिष्य परम्पराक्रम से वेदों का जिसमें अन्त (समाप्ति) हो जाता है उस परमब्रह्म के स्वरूप का जो यथार्थ ज्ञान चला आ रहा है उस सम्प्रदाय का प्रवर्तक मैं (परमात्मा) ही हूँ अर्थात् मैं ही अनादिकाल से कृपाकर शुद्धचित्त शिष्य के गुरु के हृदय में (बुद्धि में) स्थित होकर वेदान्तप्रतिपाद्य अपने स्वरूप का ज्ञान देता आ रहा हूँ। [वेदान्त भी वेद के समान अपौरुषेय है अर्थात् किसी व्यक्ति विशेष की बुद्धि द्वारा प्रणीत (वर्णित) नहीं है, यही स्पष्ट करने के लिये भगवान् ने कहा—'अहं वेदान्तकृत्']। केवल यही नहीं परन्तु मैं ही वेदों के अर्थ का (यथार्थ तात्पर्य का) जानने वाला हूँ अर्थात् कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड तथा ज्ञानकाण्डात्मक मन्त्र तथा ब्राह्मण सहित जो चारों वेद विद्यमान हैं उन सब वेदों का अर्थ (यथार्थ तत्त्व) मैं ही जानता हूँ। श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि के द्वारा जब विद्वान अपने को ब्रह्मस्वरूप आत्मा से अभिन्न जानते हैं तब अखण्ड, अनन्त, ज्ञानस्वरूप (सर्वज्ञ) आत्मा का प्रकाश उनकी अति निर्मल बुद्धि में प्रतिफलित होता है एवं तभी वेद का यथार्थतत्त्व उनको ज्ञात होता है अर्थात् ब्रह्म के साथ एक होकर ही वेद के प्रतिपाद्य ब्रह्मतत्त्व को जाना जाता है—यही कहने का तात्पर्य है।

चार श्लोकों में (१२–१५ श्लोकों में) भगवान् अपने सर्वात्मत्व को प्रदर्शित कर संक्षेप से यही कह रहे हैं कि बाहर-भीतर जो कुछ भी है वह मैं ही हूँ तथा जो कुछ कार्य हो रहा है उसका कर्ता भी मैं ही हूँ अर्थात् मुझसे ही सब कुछ हो रहा है। समस्त तेज, समस्त रस, जठराग्नि, प्राण, अपान—ये सब मैं ही हूँ। ज्ञान, स्मृति तथा उन दोनों का अभाव भी मुझसे ही होता रहता है। वेदान्त का कर्ता, वेदों का ज्ञाता तथा वेदों की ज्ञेय वस्तु—ये सब मुझसे भिन्न नहीं है। इस प्रकार १४ वें अध्याय के अन्तिम श्लोक में भगवान् ने जो कहा कि 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्' वह इन श्लोकों में स्पष्ट किया गया है।

'यदादित्यगतं तेजः' इत्यादि श्लोकों (गीता १२-१५ श्लोकों) द्वारा विशेष उपाधियुक्त नारायण नामक भगवान् (ईश्वर) की विभूतियाँ संक्षेप से कही गई। परमात्मा एक होने पर भी उपाधि के भेद से नानरूप से प्रतीत होते हैं वे सब रूप ही उनकी विभूतियां हैं। पूर्व श्लोक में उपाधिविशिष्ट परमात्मा की जो-जो विभूतियाँ वर्णित हुई हैं वे दो भागों में विभक्त की जा सकती हैं (१) 'क्षर' शब्द वाच्य **कार्यात्मक**—उपाधिविशिष्ट ब्रह्म की विभूति तथा (२) 'अक्षर' शब्द वाच्य **कारणात्मक**—उवाधिविशिष्ट ब्रह्म की विभूति। अब क्षर और अक्षर इन दोनों उपाधियों से प्रकृष्टरूप को वियुक्तकर (सम्पूर्णतया पृथक् कर) केवल निरुपाधिक परमात्मा के स्वरूप का निर्धारण (निश्चय) करने की इच्छा से परवर्ती श्लोकों का आरम्भ किया जाता है। [समस्त गीताशास्त्र का वह निरुपाधिक परमब्रह्म ही एकमात्र प्रयोजन है इसे निर्णय करने के लिये] अतीत (पहले) के अव्यवहित पूर्ववर्ती (ठीक इससे पहले) एवं आगामी (आगे आने वाले) सभी अध्यायों के समस्त अभिप्राय को तीन भेदों में (क्षर, अक्षर, तथा पुरुषोत्तम इन तीन भेदों में विभक्त करके कहने के लिये इस संसार में 'पुरुष' शब्द से क्षर तथा अक्षर इन दोनों प्रकार के पुरुषों को सूचित किया जाता है, ऐसा प्रतिपादन कर उपाधि विशिष्ट ब्रह्म का संक्षेप से परिचय श्रीभगवान् दे रहे हैं।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥

अन्वय—लोके क्षरः अक्षरः च (इति) इमौ द्वौ एव च पुरुषौ (स्तः)। सर्वाणि भूतानि क्षरः, कूटस्थः अक्षरः उच्यते।

अनुवाद—लोक में (संसार में) क्षर तथा अक्षर ये दो पुरुष प्रसिद्ध हैं। उनमें समस्त भूत (कार्यसमुदाय) क्षर हैं तथा कूटस्थ (कारणउपाधिविशिष्ट) पुरुष को अक्षर कहा जाता है।

भाष्यदीपिका—**लोके**—संसार में अर्थात् सांसारिक व्यवहार में **क्षरः**—जो क्षरित यानी क्षीण (नाशवान्) होता है वह कार्यराशि ही एक पुरुष है [महत्तत्व से लेकर

स्थूल देहादि तक जो कुछ जगत् में कार्यरूप से दिखाई देता है वह सभी विनाशशील है, इस प्रकार विनाशशील कार्यराशि जिसकी उपाधि है उस पुरूष को क्षर पुरूष कहा जाता है। **अक्षरः च**—तथा जो क्षरित नहीं होता है (विनाशरहित है), जो कि भगवान् की माया शक्ति है, क्षर पुरूष की उत्पत्ति का बीज है तथा अनेक संसारी जीवों की कामना एवं कर्मादि के संस्कारों का आश्रय है उसे क्षर से विपरीत अक्षर पुरूष कहते हैं। यहाँ 'पुरूष' शब्द से यह सूचित किया गया है कि चैतन्यसत्ता क्षर में (विनाशशील कार्य पदार्थ में) तथा अक्षर में (कारणरूपी मायाशक्ति में) व्याप्त है एवं अक्षर पुरूष से यह भी कहा गया है कि केवल जड़ प्रकृति ही क्षर नामक विकार-पदार्थ समूह की सृष्टि का कारण नहीं है क्योंकि चेतन सत्ता के बिना जड़ प्रकृति या माया स्वतन्त्ररूप से कुछ भी करने में असमर्थ है, इसप्रकार निर्देशकर श्रीभगवान् सांख्य मत का निराकरण कर रहे हैं। 'पुरूष' शब्द का यही विशेष तात्पर्य है। इसप्रकार क्षर एवं अक्षर नाम से **इमौ द्वौ एव पुरुषौ** (**स्तः** —ये दो पुरुष ही संसार में प्रसिद्ध है। [वे दोनों पुरूष कौन हैं? सो भगवान् स्वयं ही बतलाते हैं-] **सर्वाणि भूतानि क्षरः**—समस्त भूत अर्थात् प्रकृति के सारे विकार (विकारशील कार्यवर्ग) क्षर हैं क्योंकि सभी कार्यवर्ग विनाशशील हैं। **कूटस्थः अक्षरः**—जो कूट (राशि) के समान अर्थात् शिलाराशि या पर्वत के समान स्थिररूप से स्थित है वह कूटस्थ है अथवा कूट रूप से (माया के रूप से) अर्थात् वंचना, छल, कुटिलता आदि जिसके पर्याय हैं उस माया आदि अनेक प्रकार से जो स्थित है वह कूटस्थ है। [यथार्थ वस्तु को छिपाकर अयथार्थ वस्तु को प्रकाशित करना कूट (माया) है, जिसका दूसरा अर्थ वंचन भी है। अतः जो आवरण तथा विक्षेप इन दो शक्तिरूप से स्थित है वह कूटस्थ है। (मधुसूदन)] भगवान् की मायाशक्ति ही कारण-उपाधि होकर संसार की बीजरूपा है अर्थात् संसार की सृष्टि, स्थिति, प्रलय का हेतु है। वह मायाशक्ति संसार के सभी बीज का आश्रय तथा उपादान होने के कारण अनन्त है अर्थात् ब्रह्मज्ञान के बिना इसका नाश संभव न होने के कारण अज्ञानी की दृष्टि में मायाशक्ति प्रवाह रूप से अविनाशी (नित्य) है। इसलिये उसे **अक्षर**—कहा जाता है। [कोई लोग तो 'क्षर' शब्द से अचेतन वर्ग बताकर 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' इस कथन से जीव का उल्लेख हुआ

बताते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं हैं, क्योंकि पुरुषोत्तमरूप से क्षेत्रज्ञ को ही प्रतिपादन करना अभीष्ट है। अतः क्षर और अक्षर शब्दों से कार्योपाधि और कारणोपाधि इन दोनों जड़ों का ही वर्णन किया जाता है—यही मानना उचित है (मधुसूदन)] **उच्यते**—ऐसा ही विवेकी पुरुष कहते हैं।

टिप्पणी (१) श्रीधर—अब 'तद्धाम परमं मम' इस प्रकार जो कहा था उस अपने सर्वत्तमत्व को 'द्वाविमौ' इत्यादि तीन श्लोकों द्वारा स्पष्ट करते हैं **क्षरः च अक्षरः एव च इमौ द्वौ पुरुषौ लोके (प्रसिद्धौ)**—क्षर और अक्षर ये दो पुरुष लोक में प्रसिद्ध हैं (वे दोनों कौन हैं यह कहते हैं)—(**तत्र) क्षरः सर्वाणि भूतानि** उनमें से समस्त भूत अर्थात् ब्रह्मा से लेकर स्थावर तक समस्त शरीर समुदाय क्षर पुरुष नाम से प्रसिद्ध है। यह प्रसिद्ध है कि अविवेकी लोग शरीरों में ही पुरुषत्व बुद्धि रखते हैं। (इसलिये क्षर को पुरुष कहा गया है) **कूटस्थ अक्षरः**—तथा शरीरों का नाश होने पर भी जो कूट के समान (अर्थात् शिलासमुदाय या पर्वत आदि के समान) निर्विकाररूप से स्थित रहता है, वह कूटस्थ चेतन (भोक्ता) अक्षर पुरुष हैं **उच्यते**—इसप्रकार विवेकियों द्वारा कहा जाता है।

(२) **शंकरानन्द**—विचक्षण, युक्तिकुशल, सूक्ष्मबुद्धिसम्पन्न तथा शुद्धचित्त मुमुक्षुओं के विवेक एवं वैराग्य की सिद्धि के लिये वृक्षरूप से संसार का वर्णन करके इस संसारवृक्ष पर आरूढ़ हुए (चढ़े हुए) अविवेकी, वैराग्य शून्य मूढ़ों का पतन (अधोगति) के विना कभी भी मोक्षरूप फल सिद्ध नहीं होता। इसलिये विवेक से उत्पन्न हुए वैराग्यरूप खड्ग से इस वृक्ष को काटकर सत्-असत्(आत्मा-अनात्मा) का विवेक करके परमतत्त्व को जानना चाहिए, इसप्रकार उस परमतत्व के ज्ञान में प्रवृत्ति सिद्ध करने के लिये ब्रह्मविद् पुरुष की ब्रह्मप्राप्ति, उस प्राप्ति के साधन और उसके फल का निरूपण करके अब मुमुक्षु को ज्ञातव्य ब्रह्म के स्वरूप का अतत्त्व के (ब्रह्म के अतिरिक्त दूसरी वस्तु के) निरसन (त्याग) द्वारा तीन श्लोकों से बोधन करते हैं। उसमें पुरुषोत्तमनामक परमब्रह्म का जिनकी अपेक्षा से पुरुषोत्तमतत्व है उन दोनों पुरुषों का (अर्थात् प्रकृति एवं उसके कार्यरूप दोनों उपाधियों का) निर्देश करते हैं अर्थात् जिसके अपवाद से (जिन दो उपाधिओं से रहित होने पर) ब्रह्म का असंसारित्व,

निर्विशेषत्व, शुद्धत्व, नित्यमुक्तत्व तथा अद्वितीयत्व सिद्ध होता है उसका वर्णन करते हैं **क्षरः च**—'च' शब्द समुच्य के अर्थ में अर्थात् समस्त क्षर पदार्थों को एक साथ ग्रहण करने के लिये है। जो स्वकाल में अर्थात् विद्यमान रहते-रहते ही नष्ट होता है यानी जो नश्वर (विनाशशील) है ऐसा महत् से लेकर स्थूल तक समस्त संसार रूप कार्यवर्ग एक पुरुष ('क्षर' पुरुष) है। **अक्षरः च**—यहाँ भी 'च' कार समुच्चय के अर्थ में है। क्षर जिसप्रकार अपने काल में नष्ट हो जाता है उसी प्रकार जो नष्ट नहीं होता है अर्थात् जो अक्षर परमात्मा के विज्ञान के बिना नष्ट नहीं होता, वह संसार का कारणरूप मूल प्रकृति (मायाशक्ति) 'अक्षर' पुरुष है। पुरुष की (आत्मा की) उपाधि होने से क्षर एवं अक्षर दोनों में पुरुषत्व है, वस्तुतः (पारमार्थिक दृष्टि से) उनमें पुरुषत्व नहीं है क्योंकि वे परिच्छिन्न अनित्य एवं असत् (मिथ्या) हैं। **इमौ द्वौ एव पुरुषौ लोके**—ये क्षर, अक्षर दोनों ही पुरुष लोक में (संसार में) प्रसिद्ध हैं। पुरुष के (आत्मा के) संसारित्व की सिद्धि के लिये क्षर एवं अक्षर दोनों ही पुरुष की उपाधि हैं—उससे अन्य कोई नहीं है। यही 'एव' कार का अर्थ है। वे क्षर और अक्षर कौन हैं ? ऐसी आकांक्षा होने पर कहते हैं—**सर्वाणि भूतानि क्षरः इति उच्यते**—जो होते हैं वे भूत कहलाते हैं। आकाश से लेकर भूमि तक ये पंचमहाभूत तथा उन भूतों के कार्य देह-इन्द्रिय आदि सबको क्षर कहते हैं। नाम-रूप से अभिव्यक्त (प्रकाशित) देह तक महद् आदि सम्पूर्ण विकार पदार्थ क्षर नामक पुरुष है ऐसा विवेकी पुरुष कहते हैं **कूटस्थः अक्षरः उच्यते**—महद् से लेकर पृथ्वी तक समष्टि व्यष्टिस्वरूप स्थूल-सूक्ष्म प्रपंचरूप कार्यराशि कूट कहलाती है—वे सभी विकार-मात्र हैं। कूटरूप समस्त कार्यों में जो सर्वत्र कारणरूप से घट आदि में मिट्टी के समान बाहर एवं भीतर व्याप्त होकर स्थित है ऐसे प्रकृति शब्दवाच्य अव्यक्त को 'कूटस्थ' कहा जाता है अथवा जैसे पुत्रसंतति का और पुत्री की संतति का मूलभूत पुरुष कूटस्थ कहलाता है, उसी प्रकार रजः कार्य संतति का, तमः कार्य संतति का, सत्त्व कार्य संतति का मूलभूत त्रिगुणात्मिका प्रकृति को कूटस्थ कहा जाता है। अथवा 'कूट' शब्द का अर्थ है कपट जैसे लोक में कूटसाक्षी (कपट साक्षी) कहा जाता है उस कूट (कपट) में अर्थात् पुरुष के विपरीत भाव के आचरण में स्थित होने के कारण माया 'कूटस्थ' कहलाती है, उसी को अक्षर (अविनाशी) भी कहा जाता है [क्योंकि अज्ञानी की

दृष्टि में प्रवाहरूप से माया नित्य है]। क्षर और अक्षर ये दोनों ही आत्मा के संसारित्व के कारण है 'न सत्तन्नासदुच्यते' (न वह सत् न असत् कहा जाता है) इस न्याय से उन दोनों का निरसन (त्याग या उपेक्षा) ही उनकी निवृत्ति का कारण है। इसप्रकार सबका निरास करने पर (मिथ्यात्व बुद्धि से त्याग करने पर) परमब्रह्म में ही आत्मभाव की प्राप्ति करना तथा अनात्मा का आलम्बन (आश्रय) न करना ही विदेह मुक्ति का कारण है, ऐसा पहले जो कहा गया है उसको भूलना नहीं चाहिए।

(३) **नारायणी टीका**—अब तक इस अध्याय में संसारवृक्ष का वर्णन कर उसके आदिमूलस्वरूप परमब्रह्म का (जिसको परमपदरूप से कहा गया है एवं जिसको प्राप्त होने पर संसार में पुनरावर्तन नहीं होता है उसका) भी परिचय दिया गया। अब यह पद मायाशक्ति से अतीत होने के कारण पुरुषोत्तम है, यह सूचित करने के लिये मायाशक्ति के कार्य (क्षर) एवं व्यष्टि माया शक्ति (अक्षर) का वर्णन कर रहे हैं—लोके अर्थात् संसार में क्षर एवं अक्षर ये दोनों पुरुष प्रसिद्ध हैं जो सदा ही विकारशील या नाशवान् है। उन कार्यपदार्थों को अर्थात् महत्तत्व से लेकर स्थूल पर्यन्त समस्त स्थूल तथा सूक्ष्म कार्य वर्ग को अर्थात् समस्त भूतवर्ग को क्षर कहा जाता है, तथा कूटस्थ को 'अक्षर' कहा जाता है। 'कूट' शब्द का अर्थ है राशि अर्थात् शिलाराशि। जो शिलाराशि के समान अर्थात् पर्वत के समान स्थिररूप से स्थित है वह कूटस्थ है। जो जबतक अज्ञान रहता है तबतक बारंबार देह का विनाश होने पर भी पर्वत के समान जन्म-जन्म में स्थिर अर्थात् एकरूप से रहता है वह चैतन्ययुक्त मायाशक्ति जो प्रतिदेह में जीवरूप से कर्त्ता, भोक्ता इत्यादिरूप से अभिमान करके रहता है, उसे 'कूटस्थ' कहा जाता है। जबतक अज्ञान रहता है तब तक यह अक्षर यानी अविनाशी है इसलिये कूटस्थ को अक्षर कहा जाता है। वस्तुतः अज्ञानावस्था में चैतन्यस्वरूप आत्मा को आश्रय कर मायाशक्ति ही अक्षर (अविनाशी) रहकर क्षर पदार्थों का (कार्यरूप सर्वभूतों का) कारण होती है। क्षर तथा अक्षर दोनों ही (मायाशक्ति तथा उसके कार्य दोनों ही) जड़ हैं तथापि विवेकशून्य (अज्ञानी) पुरुषों की शरीरादि जड़वस्तु में ही पुरुषत्वबुद्धि (आत्मबुद्धि) रहने के कारण क्षर तथा अक्षर को 'पुरुष' शब्द से अभिहित किया गया है। अथवा 'कूट' शब्द का अर्थ है—माया, वंचना, कुटिलता

क्योंकि यह वस्तु के यथार्थस्वरूप को आच्छादित कर उसे दूसरी प्रकार से दिखाता है। यह मायाशक्ति ही सृष्टि, स्थिति, प्रलय का हेतु है अर्थात् संसार के सकल वीज का (काम, कर्म, संस्कार आदि का आश्रय या संसार का उपादान कारण है। उस माया में अर्थात् उसकी आवरण तथा विक्षेपशक्ति में जो स्थित है यानी जो उसके वशीभूत है उसे 'कूटस्थ' कहा जाता है। वह मायाशक्ति ही क्षर की (कार्यरूप भूतवर्ग की) उत्पत्ति का हेतु है। जीवों के काम, कर्म, संस्कार आदि अनन्त होने के कारण उनका आश्रय जो मायाशक्ति (कूट) है, वह भी अनन्त ही है, अतः वह अक्षर है अर्थात् जबतक ब्रह्मज्ञान या आत्मसाक्षात्कार न हो तबतक इसका विनाश नहीं है। अतः अज्ञानी की दृष्टि में यह कूट (मायाशक्ति) प्रवाहरूप से अक्षर (नित्य) प्रतीत होती है। अतः जो इस कूट में जीवरूप से स्थित है उसको अर्थात् व्यष्टि मायाशक्ति-युक्त जीवचैतन्य को भी विवेकी पुरुषों के द्वारा अक्षर कहा गया है। सारांश यह है कि जो कुछ कार्यरूप से (दृश्यरूप से) उत्पन्न हुआ है उस भूतसमूह को क्षर कहा जाता है क्योंकि यह सब ही विनाशशील है एवं उनमें अभिमानी पुरुष को 'क्षर पुरुष' कहते हैं। क्षर पदार्थों की कोई पारमार्थिकसत्ता नहीं है। उनके सृष्टि आदि व्यापार सभी मन की कल्पनाशक्ति से होते हैं। यह मन या कल्पनाशक्ति ही कूट (माया) है। मन अनेक हैं अतः माया भी अनेक हैं। इसलिये आदि शंकराचार्य ने भाष्य में कहा है—'अनेक मायादिप्रकारेण'। यह व्यष्टि माया जिस जीवचैतन्य की उपाधि है अर्थात् जो इस कूट या माया में स्थित है वह 'कूटस्थ' है। एवं अज्ञान की स्थिति तक इस जीवत्व का नाश न होने के कारण यह (जीवभाव) 'अक्षर' भी है। [ईश्वर और जीव में यही भेद है कि व्यष्टिमाया में अभिमान कर जो चैतन्यसत्ता माया के वशीभूत होकर कर्ता, भोक्ता रूप से स्थित होता है वही जीव है अर्थात् कूटस्थ तथा अक्षर है और जो चैतन्य समष्टि मायोपाधि विशिष्ट होकर मायाधीश अर्थात् माया का नियन्ता होता है, वह ईश्वर है अर्थात् शुद्ध-चैतन्यस्वरूप पुरुषोत्तम जब मायाशक्ति को उपाधिरूप से स्वीकार कर विश्वप्रपंच की सृष्टि, स्थिति और प्रलयकर्ता है तब उसे ईश्वर कहते हैं। परवर्ती दो श्लोकों में उस पुरुषोत्तम या ईश्वर को अक्षर पुरुष से उत्तम कहने से कूटस्थ अक्षर व्यष्टि—माया उपाधिविशिष्ट जीवचैतन्य है, ऐसा कहना युक्त ही है। [श्लोक में क्षर

एवं अक्षर पुरुष में एक वचन 'जाति' अर्थ में है तथा 'च' शब्द समुच्चय के अर्थ में है।] सारांश यह है कि विनाशशील जड़ भूतवर्ग क्षरपुरुष है। चित्-जड़ ग्रन्थिरूप जीवचैतन्य (जबतक अज्ञान रहता है तबतक) विनाश प्राप्त न होने के कारण वह अक्षर है तथा कूट या माया में स्थित (अर्थात् व्यष्टि माया इसकी उपाधि) होने के कारण वह कूटस्थ पुरुष कहलाता है। और अखण्ड, अद्वय, शुद्ध, चैतन्य स्वरूप परमात्मा क्षर पुरुष से विलक्षण (पृथक्) और अक्षर पुरुष से (भोक्ता, कर्तारूप जीव चैतन्य से) उत्तम (श्रेष्ठ) होने के कारण वह **पुरुषोत्तम** है—यही परवर्ती दो श्लोकों में स्पष्ट करेंगे।

[जो क्षर तथा अक्षर इन दोनों से विलक्षण है अर्थात् क्षर-अक्षर रूप दोनों उपाधियों के दोष से रहित है उस नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाववाले पुरुष का वर्णन किया जा रहा है—]

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ १७॥

अन्वय—अन्यः तु उत्तमः पुरुषः परमात्मा इति उदाहृतः, यः अव्ययः ईश्वरः लोकत्रयम् आविश्य बिभर्ति।

अनुवाद—पूर्वोक्त क्षर एवं अक्षर इन तीनों पुरुषों से विलक्षण अन्य एक उत्तम पुरुष है जो परमात्मा कहा गया है। यह परमात्मा तीनों लोकों में (अपने चैतन्यबल की शक्ति से अर्थात् मायाशक्ति से) प्रविष्ट होकर उनको धारण (पोषण) करता है। वह परमात्मा अव्यय (अविकारी) तथा ईश्वर (सबका नियन्ता) है।

भाष्यदीपिका—अन्यः तु उत्तमः पुरुषः—उत्तम (अतिशय उत्कृष्ट अर्थात् सबसे श्रेष्ठ) पुरुष तो दूसरा ही है। 'तु' शब्द विलक्षणता का निर्देश करने के लिये है अर्थात् जो उत्तम पुरुष है वह इस संसाररूप कार्य क्षर एवं संसार के कारणरूप अक्षर इन दोनों से अत्यन्त विलक्षण (भिन्न) है अर्थात् जो क्षर एवं अक्षररूप उपाधिके दोष द्वारा किसी प्रकार से स्पष्ट नहीं होता है तथा जो सदा ही नित्य, शुद्ध, मुक्त, चैतन्यस्वरूप (क्षर तथा अक्षर इन दोनों का प्रकाशक) है वही उत्तम पुरुष है।

[उत् अर्थात् उद्गत (तिरोहित) हुआ है तमः (अविद्या रूप अंधकार) जिससे अथवा तम आदि तीनों गुण उद्गत हुए हैं जिससे वह उत्तम (गुणातीत) अर्थात् उत्कृष्टतम है। इसको पुरुष कहा जाता है क्योंकि यह सबके पहले ही विद्यमान है एवं सभी पुर में (सबके हृदयरूपी पुरी में) पूर्णरूप से सदा ही स्थित है।] **परमात्मा इति उदाहृतः**—वह परमात्मा नाम से उदाहृत (अभिहित) अर्थात् कहा गया है वह उत्तम पुरुष परम (अर्थात् श्रेष्ठ) है तथा सभी का आत्मा भी है, इसलिये उसको परमात्मा कहा गया है। अविद्या द्वारा मोहित होकर साधारण जीव देह-इन्द्रियादि में आत्मबुद्धि करके कभी अन्नमय कोश में, कभी प्राणमय कोश में, कभी मनोमय कोशमें, कभी विज्ञानमय कोश में एवं कभी आनन्दमय कोश में अवस्थान करता है किन्तु वह शुद्ध चैतन्यस्वरूप उत्तम पुरुष इन सब कोशों से परम अर्थात् विलक्षण होने के कारण श्रेष्ठ है एवं वह सभी प्राणियों का आत्मा (अन्तरात्मा) भी है, इसी कारण वेदान्त-वाक्य में वह 'परमात्मा' नाम से कहा गया है। इस परमात्मा का विशेष परिचय क्या है ? इस पर कहते हैं—**यः**—जिसको परमात्मा कहा जाता है वह **अव्ययः**—अविनाशी है क्योंकि वह नित्य, सर्वव्यापी तथा अचल होने के कारण सर्व अवस्था में ही अविकारी है। वह स्वरूप में निर्विकार होने पर भी माया द्वारा **ईश्वरः**—ईशन-शील अर्थात् विश्व का नियन्ता, सर्वज्ञ, नारायण है। ईश्वररूप से वह क्या करते हैं ? **लोकत्रयम् आविश्य**—वह भू (पृथ्वी), भुवः (अन्तरिक्ष) तथा स्वः (स्वर्ग) इन तीनों लोकों को (सारे जगत् में) अपने चैतन्यबल की शक्ति से (मायाशक्ति से) उनमें प्रविष्ट होकर **बिभर्ति**—केवल अपने स्वरूप की सत्तामात्र से धारण करता है अर्थात् अपनी सत्ता एवं स्फूर्ति (प्रकाश) देकर धारण-पोषण करता है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—जिस प्रयोजन से क्षर एवं अक्षर इन दोनों को लक्षित कराया गया था उसको बताते हैं—**उत्तमः पुरुषः तु अन्यः**—किन्तु इन क्षर एवं अक्षर इन दोनों से जो विलक्षण है वह उत्तम पुरुष है। उसकी विलक्षणता किस प्रकार की है उसे कहते हैं—**परमात्मा इति उदाहृतः**—वह श्रुतियों द्वारा परमात्मा नाम से कहा गया है। कहने का अभिप्राय यह है कि वह उत्तम पुरुष आत्मा होने के कारण क्षर से (अचेतन कार्य-वर्ग से) विलक्षण है एवं वह परमात्मा परम

(श्रेष्ठ) होने के कारण अक्षर (चेतन-भोक्ता) से भी विलक्षण है। अब उसके परमात्म-भाव का वर्णन करते हैं—**यः अव्ययः**—जो ईश्वर (ईशनशील अर्थात् शासन करना ही है स्वभाव जिसका वह) **अव्ययः**—अविनाशी (निर्विकार) स्वरूप में स्थित होकर **लोकत्रयम् आविश्य बिभर्ति**—सम्पूर्ण त्रिलोकी में प्रविष्ट होकर सबका भरण-पोषण अर्थात् पालन करता है।

(२) **शंकरानन्द**—पूर्ववर्ती श्लोक में कार्यरूप क्षर एवं कारणरूप अक्षर इन दोनों का पुरुष वाच्यत्व प्रतिपादित करके उन दोनों उपाधियों से विलक्षण (भिन्न) उनके धर्म और कर्मादि से अस्पृष्ट नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव तथा चतुर्थ श्लोकोक्त 'परमपद' शब्द के अर्थ एवं मुक्त पुरुषों से प्राप्त होने के योग्य परमतत्व को निर्देश करते हैं—**उत्तमः पुरुषः**—सबसे उत्कृष्टतम पुरुष। 'दिवो ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्' (स्वर्ग से बड़ा, अन्तरिक्ष से बड़ा) तथा 'ततो ज्यायांश्च पुरुषः' (उससे पुरुष बड़ा) इसप्रकार श्रुति वाक्य से आत्मा सबसे उत्कृष्टतम है ऐसा सुना जाता है अर्थात् 'उत्तम' वही है जो स्वयं सत्ता एवं स्फूर्ति से (प्रकाश से) महत्तम (निरतिशय वैभवसम्पन्न अर्थात् सर्वप्रकार के परिच्छेद से रहित) है। सर्वत्र पूर्ण होने के कारण उसे 'पुरुष' कहा जाता है। **तु अन्यः**—वह पुरुष अर्थात् उत्तमत्व विशेषण से विशिष्ट पुरुष तो अन्य है। 'क्षर' शब्द से वाच्य संसार (कार्य जात पदार्थ) और 'अक्षर' शब्द से वाच्य संसार के कारण (प्रकृति या मायाशक्ति) इन दोनों पुरुषों से वह अन्य है। परम महत्व से, चेतनत्व से, ज्ञातापन से, प्रकाशकत्व से तथा प्रकाशस्वरूप होने के कारण वह उत्तम (उत्कृष्ट) है। इसप्रकार उत्तमत्व विशेषण से विशिष्ट पुरुष अर्थात् उक्त लक्षण विशिष्ट असंसारी प्रत्यगात्मा उन दोनों पुरुषों से (क्षर तथा अक्षर से) भिन्न ही होता है। जिस प्रकार स्थावर और जङ्गम से उनका प्रकाशक तथा ज्ञाता सूर्य उनसे भिन्न है तथा उनके धर्म एवं कर्म से अस्पृष्ट रहता है, उसी प्रकार 'मैं अज्ञ हूँ' 'मेरा यह अहंकार आदि दुष्ट है' इसप्रकार अपने प्रकाश्य अज्ञान से और अज्ञान के कार्य से उसका ज्ञाता तथा उनका प्रकाशक आत्मा भिन्न ही अनुभूत होता है। इसलिये वह ज्ञाता होने से उनसे (क्षर तथा अक्षर से) भिन्न ही है अतः उनके धर्म एवं कर्मादि से वह छुआ नहीं जाता, ऐसा जानना चाहिए, यही कहने का अभिप्राय है। यदि शंका हो कि

वायु भी महान् और अतिसूक्ष्म है परन्तु उससे भिन्न दुष्ट और अदुष्ट द्रव्य से संयोग होने पर वह दुष्ट और अदुष्ट गंध से लिप्त होता है, ऐसा देखा जाता है एवं कहा भी जाता है कि वायु सुगंधित है या दुर्गन्धित है, उसी प्रकार पुरुषोत्तम आत्मा का क्षर एवं अक्षर से भिन्न होने पर भी उनके योग से उनके धर्म और कर्मादि का लेप क्यों नहीं होगा ? इसके उत्तर में कहा जाता है कि यह ठीक नहीं है क्योंकि वायु अवयवविशिष्ट होने के कारण उसमें सबका सम्भव है। किन्तु निरयवत्व आदि धर्म से आत्मा क्षर एवं अक्षर इन दोनों से भी परम होने के कारण उनके धर्म एवं कर्मादि से लिप्त नहीं होता है, ऐसा बोधन करने के लिये कहते हैं—**परमात्मा इति उदाहृतः**— अन्य अन्तरात्मा प्राणमय है [दूसरा भीतर के आत्मा प्राणमय है] इससे अन्नमय से लेकर कूटस्थ तक कोशों में आत्मत्व श्रवण होने से आत्मशब्दवाच्य क्षर एवं अक्षर से, विलक्षण प्रत्यगात्मा निरवयव होने से, अतिसूक्ष्म होने से, अन्तर होने से, प्रत्यग् होने से, ज्ञाता होने से, भासक होने से, व्यापक होने से, असङ्ग होने से तथा निरतिशय होने से प्रकृति से (अक्षर से) और उसके कार्य से (क्षर से) उसे स्पर्श नहीं किया जा सकता। इसलिये उसे परम कहा जाता है। परम भी है तथा आत्मा भी है इसलिये वह परमात्मा है, ऐसा कहा गया है। 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः। महतः परमव्यक्तम-व्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः।' [इन्द्रियों से पर (श्रेष्ठ) अर्थ (विषय) हैं, अर्थों से पर मन है, मन से पर बुद्धि है, बुद्धि से महान् आत्मा पर है, महान् आत्मा से पर अव्यक्त है और अव्यक्त से पर (श्रेष्ठ) पुरुष है, पुरुष से पर कुछ नहीं है, वह काष्ठा (अन्तिम सीमा) है और वह परा गति है] तथा 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः॥' [वह अमूर्त पुरुष, दिव्य (स्वयंप्रकाश) है। वही अजन्मा बाहर तथा भीतर व्याप्त होकर स्थित है वह प्राणरहित मनरहित, शुद्ध, अक्षर से (पर से) पर है] एवं 'अतो ज्यायांश्च पुरुषः। पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' [इससे बड़ा पुरुष है, इसका चतुर्थांश सब भूत हैं इसके अविनाशी तीन भाग स्वप्रकाश स्वरूप हैं] इत्यादि श्रुतियों से प्रतिपादित किया गया है। यही सूचित करने के लिये ही 'उदाहृत' शब्द है।

परमत्व, चेतनत्व, ज्ञातृत्व, प्रकाशकत्व आदि धर्मों से उत्तम पुरुष का क्षर एवं अक्षर से [अर्थात् कार्यरूप संसारी तथा उसके हेतु (कारण) भावापन्न पुरुष से] जो अन्यत्व (विलक्षणता) का प्रतिपादन किया गया है उसको फिर विशेषण से विशेषभाव से स्पष्ट करते हैं—**यः अव्ययः ईश्वरः**—यह आत्मा अव्यय है ऐसा कहकर क्षर तथा अक्षर से आत्मा के भिन्नत्व का ही प्रतिपादन किया गया है क्योंकि सुषुप्ति तथा समाधि में क्षर एवं अक्षर इन दोनों का क्रम से नाश होने पर भी आत्मा स्वयं नष्ट नहीं होता है। यहाँ 'अव्यय' हेतुगर्भित विशेषण है। आत्मा क्षर तथा अक्षर पुरुष से अन्य (विलक्षण) है, अव्यय होने से जो ऐसा नहीं वह ऐसा नहीं, जैसे बुद्धि आदि—इस प्रकार की युक्ति है। आत्मा क्षर तथा अक्षर इन दोनों के साक्षी रूप से सुषुप्ति तथा समाधि में विद्यमान होने से आत्मा के व्यय का अभाव है, अतः नित्य होने के कारण उन दोनों से अन्यत्व (विलक्षणत्व) उत्तमत्व (श्रेष्ठत्व) सिद्ध है फिर वही आत्मा अपनी सन्निधिमात्र से ये दोनों के (क्षर तथा अक्षर पुरुषों के) व्यापार का हेतु होने के कारण ईश्वर है। ['ईश्वर' शब्द भी हेतुगर्भित विशेषण है।] आत्मा दोनों से (क्षर एवं अक्षर पुरुषों से) भिन्न, है, उसकी प्रवृत्ति का हेतु होने के कारण, राजा के समान। जैसे प्रधान आदि राजा के द्वारा कर्म में प्रवर्तित होते हैं, अतः उनके राजा का भिन्नत्व तथा उत्तमत्व है, ऐसे ही क्षर तथा अक्षर वे दोनों आत्मा से ही प्रवर्तित होने के कारण उनसे आत्मा का भी भिन्नत्व तथा उत्तमत्व सिद्ध है। **लोकत्रयम् आविश्य बिभर्ति**—वह अव्यय ईश्वर तीनों लोकों को व्याप्त करके धारण करता है। 'लोक्यन्ते ज्ञायन्त इति लोकाः' (जो देखे जाते हैं, जाने जाते हैं उनको लोक कहते हैं) अर्थात् समष्टि–व्यष्टिरूप स्थूल-सूक्ष्मकारण देह तथा उनमें जो अभिमान करते हैं एवं उनकी जो विभिन्न अवस्थायें होती हैं उनको लोक कहा जाता है। अतः 'लोकत्रय' शब्द का अर्थ है स्थूल, सूक्ष्म, कारण नामंवाले तीनों शरीर, जो आत्मा का अपना आधार हैं। इन तीनों शरीरों में अव्यय ईश्वर (आत्मा) प्रवेश करके (बाहर एवं भीतर सर्वत्र व्याप्त होकर) [सत्ता और स्फूर्ति (प्रकाश) देकर] धारण करता है क्योंकि श्रुति कहती है—'व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः' [व्यक्त और अव्यक्त विश्व को ईश्वर भरण (पोषण) करता है।] जिन तीनों लोकों को ईश्वर

(आत्मा) धारण करता है उनसे आत्मा भिन्न है, तीनों लोक आधार होने से, चित्र के आधार दीवार के समान—इस प्रकार युक्ति से आत्मा का उन दोनों से भिन्नत्व और उत्तमत्त्व सिद्ध है अथवा 'लोक्यन्ते दृश्यन्त इति लोकाः' (जो देखे जाते है वे लोक हैं ।) उनमें अभिमानी और भोग्य पदार्थ सहित जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति ये लोकत्रय हैं । उनमें प्रवेश (व्याप्त) करके आत्मा उनको भरण करता है अर्थात् प्रकाशित करता है, क्योंकि 'जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिप्रपञ्चं यत्प्रकाशते' (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि प्रपंच को आत्मा प्रकाशित करता है) ऐसा श्रुतिवचन है । 'आत्मा अपने से प्रकाश्य लोकत्रय (तीनों लोक) से भिन्न है, प्रकाशक होने से, सूर्य के समान,' यह अनुमान और 'जिसने जाग्रत का अनुभव किया, जिससे स्वप्न देखा, जो सुख से सोया वह मैं स्थित हूँ', ऐसी प्रत्यभिज्ञा (अनुभव) विद्यमान है । अतः प्रकाशक आत्मा के लोकत्रय से (तीनों लोकों से) भिन्न होने में श्रुति, अनुमान एवं प्रत्यक्ष प्रमाण है । लोकत्रय का प्रकाशक होने के कारण आत्मा का नित्यत्व, परममहत्त्व चेतनत्व, प्रकाशस्वरूपत्व, अकर्तृत्व अभोक्तृत्त्व और अविक्रियत्व सिद्ध है । फिर वह अव्यय, ईश्वर और भर्ता होने से क्षर एवं अक्षर इन दोनों पुरूषों से भी उत्कृष्टतम होने के कारण आत्मा का पुरूषोत्तमत्व सर्व प्रमाण से सिद्ध होता है—यही कहने का अभिप्राय है ।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्वश्लोक में उक्त क्षर और अक्षर पुरुष से भिन्न जो नित्य, बुद्ध, मुक्त सर्वभूतों के आत्मा अर्थात् शुद्ध चैतन्यस्वरूप परमात्मा हैं वह 'उत्तमपुरूष' कहलाता है क्षर (कार्य वर्ग से) है । तथा अक्षर पुरूष से अर्थात् कूटस्थ जीवात्मा से यह समष्टिमाया का अधिष्ठान होने के कारण 'परम' अर्थात् श्रेष्ठ है एवं यह सभी का यथार्थ 'आत्मा' भी है । इसलिये वेदान्तशास्त्रादि में इसे 'परमात्मा' कहा गया है । यह परमात्मा 'अव्यय' है क्योंकि यह सर्वप्रकार विकार से रहित है एवं सर्वावस्था में ही अपने स्वरूप में सदा स्थित रहता है । इसलिये कभी इसके नाश की संभावना नहीं है । अपने स्वरूप में निर्विकाररूप से रहने पर भी यह अपनी माया शक्ति से क्षर, अक्षर अर्थात् भोक्ता, भोग्यरूप विश्वप्रपंच का 'ईश्वर' यानी नियन्ता है, इसलिये इसे ईश्वर भी कहा जाता है । अतः तीनों लोकों में (भूः भुवः, स्वः इनतीनों लोकों में यानी

समस्त विश्व में) मायाशक्ति से प्रविष्ट होकर अर्थात् सर्वत्र अधिष्ठानरूप से स्थित होकर **धारण तथा पालन करता है**—अर्थात् अपनी स्वरूपसिद्धसत्ता द्वारा भोक्ता, भोग्य आदि की सत्ता प्रदान कर एवं अपनी स्फूर्ति (प्रकाश) द्वारा प्रकाशित कर रज्जु जिस प्रकार उसमें कल्पित सर्प को धारण तथा पोषण करती है, उसी प्रकार समस्त विश्व को धारण तथा पोषण करता है। विश्व के सभी नाम, रूप, क्रिया मायिक या भ्रान्तिमात्र हैं। परमात्मारूप अधिष्ठान सत्ता से ही ये सब सत्तावान् तथा उसके प्रकाश से ही वे प्रकाशित होते हैं किन्तु परमार्थतः इनकी अपनी कोई सत्ता नहीं हैं। वह परमात्मारूप ईश्वर ही उनका अधिष्ठान होने के कारण इन सब भ्रान्त वस्तुओं की सत्ता उस परमात्मा की सत्ता से भिन्न नहीं है—यही 'आविश्य' एवं 'बिभर्ति' शब्दों का तात्पर्य है। केवल अधिष्ठान सत्ता से ही ये दोनों कार्य सम्पन्न होने के कारण परमात्मा के लिये सबके भीतर प्रवेश करने में तथा सबका भरण-पोषण करने में किसी प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है अतः उनके स्वरूप का किसी प्रकार से विकार नहीं होता है तथा स्वतन्त्रता की भी हानि नहीं है—'अव्यय' तथा 'ईश्वर' इन दोनों शब्दों के प्रयोग द्वारा श्रीभगवान् ने स्पष्ट किया। श्रुति में भी इसलिये कहा है—संयुक्तमेतत् क्षरमक्षरञ्च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः' (श्वेत० उ०) [व्यक्त प्रपञ्च क्षर है; अव्यक्त अर्थात् काम, कर्मसंस्कार, कर्मफल इत्यादि जीव चैतन्य का आश्रय कर भावी भोगों के बीज-रूप से अव्यक्त अवस्था में (प्रकृति में) स्थित रहते हैं। ये क्षर तथा अक्षर मिलकर ही समस्त कार्य-कारणात्मक विश्व है। परमात्मा मायाशक्ति से इस विश्वको भरण (पालन) करता है अर्थात् माया ही इस कार्य का सम्पादन करती है किन्तु पुरुषोत्तम आत्मा अधिष्ठान रूप से स्वयं अचल, अविकारी, सब उपाधि रहित अद्वय, अखण्ड, शुद्ध चैतन्य सत्ता में ही सर्वदा स्थित रहता है। यही श्रुति में 'ईश' शब्द का तात्पर्य है क्योंकि जीवत्व और ईशत्व दोनों ही माया के कार्य हैं अर्थात् कल्पित हैं।

[पूर्ववर्ती श्लोक में जिसप्रकार से ईश्वर के स्वरूप की व्याख्या की गई है उससे ईश्वर का 'पुरुषोत्तम' यह नाम प्रसिद्ध है। शब्द की यौगिक शक्ति द्वारा इस नाम के अर्थ के निर्वचन (निर्णय) द्वारा नाम की सार्थकता दिखलाते हुए श्रीभगवान् अपने स्वरूप को प्रकट करते हैं कि 'मैं निरतिशय ईश्वर हूँ'—]

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥

अन्वय—यस्मात् अहम् क्षरम् अतीतः, अक्षरात् अपि उत्तमः च, अतः लोके वेदे च पुरुषोत्तमः इति प्रथितः अस्मि ।

अनुवाद—क्योंकि मैं क्षर को अतिक्रम कर स्थित हूँ अर्थात् मैं क्षर से परे हूँ तथा अक्षर से भी उत्तम हूँ, इसलिये लोक और वेद में पुरुषोत्तम नाम से विख्यात (प्रसिद्ध) हूँ ।

भाष्यदीपिका—**यस्मात् अहम् क्षरम् अतीतः**—क्योंकि मैं (परमात्मा-परमेश्वर) क्षर भाव से अतीत हूँ अर्थात् कार्यरूप होने से सदाही विकारी एवं विनाशी अश्वत्थ नामक मायामय संसारवृक्ष का अतिक्रमण किये हुए हूँ अर्थात् कार्यात्मक क्षर पुरुष से सम्पूर्णतः पृथक् (विलक्षण) हूँ तथा **अक्षरात् अपि उत्तमः च**—संसारवृक्षके बीज स्वरूप (कार्यात्मक क्षर पदार्थों के कारणरूप) प्रकृति (मायाशक्ति) से भी उत्तम (अतिशय उत्कृष्ट या अतिशय उच्च) हूँ ['अक्षरात्परतः पर' इस प्रकार पञ्चम्यन्त अक्षर पद से श्रुति ने जिसका प्रतिपादन किया है उस संसारवृक्ष के बीजभूत सबके कारण मायासंज्ञक अव्याकृत से भी उत्तम अर्थात् श्रेष्ठतम हूँ (मधुसूदन) ।] अतः क्षर एवं अक्षर से उत्तम होने के कारण अर्थात् अध्यासवश 'पुरुष' शब्द से कहे जाने वाले क्षर और अक्षर, इन पुरुषों की उपाधियों से उत्तम होने के कारण **लोके वेदे च पुरुषोत्तमः इति प्रथितः अस्मि**—लोक और वेद में पुरुषोत्तम नाम से प्रथित (विख्यात–प्रसिद्ध) हूँ । 'उः उत्तमः पुरुषः' (वह उत्तम पुरुष है) ऐसा वेद में कहा ही है । अतः भक्तजन भी इसी प्रकार जानते हैं और लोक में भी (कविजन भी काव्यादि में) इसी नाम का प्रयोग करते हैं अर्थात् 'पुरुषोत्तम' इस नाम से ही मेरा वर्णन करते हैं ।

[मधुसूदन सरस्वती ने इस श्लोक की व्याख्या के अन्त में इसप्रकार कहा है—

कारुण्यतो नरवदाचरतः परार्थान्पार्थाय बोधितवतो निजमीश्वरत्वम् ।
सच्चित्सुखैकवपुषः पुरुषोत्तमस्य नारायणस्य महिमा न हि मानमेति ॥
केचिन्निगृह्य करणानि विसृज्य भोगमास्थाय योगममलात्मधियो यतन्ते ।
नारायणस्य महिमानमनन्तपारमास्वादयन्नमृतसारमहं तु मुक्तः ॥

[अर्थात् करुणावश मनुष्य के समान दूसरे के हित का आचरण करते हुए जिन्होंने अर्जुन को अपने ईश्वरत्व का बोध कराया उन सच्चिदानन्द विग्रह पुरुषोत्तम नारायण की महिमा का कोई परिमाण नहीं है। कोई विशुद्ध चित्त और निर्मल बुद्धि वाला पुरुष इन्द्रियों का निग्रह और भोगों का त्याग करके योग में स्थित होकर (उनका साक्षात्कार करके मोक्ष प्राप्ति के लिये) यत्न करते हैं किन्तु मैं अमृत के सारभूत श्रीनारायण की अनन्त अपार महिमा का आस्वादन करके मुक्त हो गया हूँ।]

टीप्पणी (१) श्रीधर—इसप्रकार अपने पुरुषोत्तमत्व को निर्वचन द्वारा दिखाते हैं **यस्मात्**—चूंकि **अहम् क्षरम् अतीतः**—मैं नित्यमुक्त होने के कारण क्षर जड़वर्ग से अतिक्रान्त (अतीत) हूँ। **अक्षरात् अपि च उत्तमः**—तथा अक्षर अर्थात् चेतन वर्ग से भी उत्तम हूँ क्योंकि उसका नियन्ता हूँ इसलिये **लोके वेदे च**—लोक और वेद में भी **पुरुषोत्तमः इति प्रथितः**—'पुरुषोत्तम' नाम से प्रसिद्ध विख्यात हूँ। श्रुति भी ऐसा कहती है—'स वा अयमात्मा' (वह यह आत्मा—बृह० उ० २।५।१५), 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः' (सबको वश में रखने वाला, सबका शासन करने वाला तथा सबका अधिपति है (बृह० उ० ४।४।२२), 'सर्वमिदं प्रशास्ति' (यह जो कुछ है सबका वह शासन करता है (बृह० उ० ५।५।१८)।

(२) **शंकरानंद**—पूर्वश्लोक में अव्ययत्व, ईश्वरत्व, भर्तृत्व आदि धर्म से पुरुषोत्तमत्व की जिस प्रकार से सिद्धि की गई है, उस प्रकार को ही स्पष्ट करते हुए ही मेरी उस प्रकार के नाम की सिद्ध अर्थवत्ता वेदशास्त्र में तथा लोक में प्रसिद्ध है इस प्रकार प्रतिपादन करके अपना अविक्रियत्व, असंसारित्व, सच्चिदानन्दैकरसत्व और अद्वितीयत्व सूचन करते हैं—**यस्मात्**—जिस कारण से **क्षरम् अतीतः अस्मि**—नित्यत्व, ज्ञातृत्व आदि धर्मों से क्षर से (महत्तत्व से लेकर स्थूल तक उत्पत्ति, लय आदि विकारों से विशिष्ट कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि, संसारधर्मयुक्त कार्यलक्षणवाले पुरुष से)

मैं अतीत (अतिक्रान्त) हूँ' नित्यत्वादि धर्म क्षर से विलक्षण तथा उत्कृष्ट होने के कारण मैं उत्तम (क्षर से अतीत) हूँ'—यही कहने का अभिप्राय है। **अक्षरात् अपि च उत्तमः अस्मि**—तथा प्रकाशस्वरूपत्व, प्रकाशकत्व, आधारत्व आदि धर्मों से मैं महान् होने के कारण अक्षर से (संसार के बीजरूप अव्यक्त से) भी 'मैं उत्तम हूँ' **अतः लोके वेदे च पुरुषोत्तमः प्रथितः'**—इसीलिये लोक में (पुराणों में) तथा वेद में (वेदों में) पुरुषोत्तम नाम से प्रथित (प्रसिद्ध) हूँ अर्थात् उपर्युक्त लक्षणविशिष्ट क्षर एवं अक्षर पुरूष से निष्कलत्व, नित्यत्व, निर्गुणत्व चेतनत्वादि धर्मों से उत्तम होने से मैं पुरुषोत्तम हूँ। क्षर एवं अक्षर पुरूष, उनके धर्म, उनके कर्म, उनकी अवस्था के सम्बन्धलेश से शून्य होने के कारण नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव, केवल, सच्चिदानन्दैकरस परमात्मा (पुरूषोत्तम) ऐसा प्रसिद्ध हूँ। 'महतोऽव्यक्तमुत्तमं अव्यक्तात्तु परः पुरूषः' (महत् से अव्यक्त उत्तम, अव्यक्त से पर पुरूष), 'पुरूषान्न परं किञ्चित्' (पुरूष से पर कुछ नहीं है), अयमात्मा सन्मात्रो नित्यः शुद्धो बुद्धः सत्यो मुक्तो निरञ्जनो विभुरद्वय आनन्दपरः प्रत्यगेकरसः' (यह आत्मा सन्मात्र, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सत्य, मुक्त, निरञ्जन, विभु, अद्वय, आनन्द, पर, प्रत्यक्, एकरस हैं), 'तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिव' (उनसे विलक्षण साक्षी चिन्मात्र मैं सदाशिव) इत्यादि स्मृतियों से तथा 'कार्यकारणसम्बन्धरहितः केवलः शिवः' (कार्यकारण के सम्बन्ध से रहित केवलशिव) इत्यादि श्रुतियों से प्रतिपादित हूँ। चित्र का अतिक्रमण करके भित्ति स्थित रहती है, इसमें युक्ति से तथा सूक्ष्मबुद्धि से विचार करने पर भित्ति से भिन्न चित्र का स्वरूप देखने में नहीं आता क्योंकि भित्ति की सत्ता के बिना चित्र की पृथक् सत्ता का अभाव है। उसीप्रकार ही क्षर एवं अक्षर नाम के दोनों पुरुषों से मैं अतीत हूँ। 'विकल्पो नहि वस्तु' (विकल्प वस्तु नहीं है), 'मायामात्रमिदं द्वैतम्' (मायामात्र यह द्वैत है), 'असत्वादन्यस्य' (अन्य का असत्त्व होने से) इत्यादि श्रुतियों से तथा यह सब असत् है, माया का कार्य होने से, इन्द्रजाल के समान'—'सब सत् ही है, सत् से अनुवृत्त होने से, मिट्टी से अनुवृत्त घट आदि के समान' इत्यादि युक्तियों से विचार करने पर परमात्मा की सत्ता के बिना इनदोनों की (क्षर तथा अक्षर की) पृथक् सत्ता का अभाव होने से 'यह सब ब्रह्म है' इत्यादि श्रुतिवाक्य के बल से पुरुषोत्तम

नामक परमब्रह्म अद्वितीय ही है। अतः 'सब ब्रह्म ही है' ऐसा जानना चाहिए—यह सिद्ध हुआ।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्वोक्त क्षर तथा अक्षर दोनों ही शुद्ध चैतन्य-स्वरूप परमात्मा (पुरुषोत्तम) की उपाधिमात्र हैं अर्थात् परमब्रह्मस्वरूप पुरुषोत्तम ही कार्योपाधि को स्वीकार कर क्षररूप में तथा व्यष्टि मायाशक्ति को (जो उस क्षर का कारण है उसको) उपाधिरूप से स्वीकार कर अक्षररूप से (भोक्ता जीवरूप से) प्रतीत होता है परन्तु वह अपने स्वरूप में सदा ही सर्वोपाधि से रहित होकर स्थित रहता है अर्थात् शुद्धचैतन्यस्वरूप होने के कारण वह जड़ नामरूपात्मक विश्वप्रपंच से (क्षर से) अतीत है अर्थात् सम्पूर्णतः विलक्षण (पृथक्) है एवं पूर्ण होने के कारण अंशरूप भोक्ता जीव से अर्थात् अक्षर पुरुष से उत्तम (उत्कृष्टतम) है। इसलिये वह पुरुषोत्तम कहा जाता है। यह पुरुषोत्तम तत्त्व ही सर्वश्रेष्ठ तत्त्व है एवं इसकी प्राप्ति से (साक्षात् अनुभव से) ही संसार में आवागमन की पूर्णतया निवृत्ति होती है, यह प्रतिपादन करने के लिये पूर्वोक्त तीन श्लोकों का उपसंहार करके श्रीभगवान् कहते हैं—

मैं क्षर पुरुष से अतीत हूँ एवं अक्षर से उत्तम हूँ इसलिये मैं उत्तम पुरुष या पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ। फिर मैं ही ईश्वर रूप से त्रिलोक को व्याप्त कर भरण-पोषण करता हूँ। अतः पुरुषोत्तमतत्त्व को ठीक-ठीक जानने के लिये ईश्वर तत्त्व, भोक्ता जीवरूपी अक्षर पुरुष का तत्त्व (जीवतत्त्व) तथा सर्वभूतों के रूप में विराजमान क्षर पुरुष का तत्त्व (जगत् तत्त्व) को जानना आवश्यक है। यह इसप्रकार है—

(१) **ईश्वरतत्त्व**—सर्वप्रपंच के उपशम (विलय) होने पर सर्वउपाधि से रहित होकर जब आत्मा (परमात्मा) केवल शुद्ध चैतन्यस्वरूप में स्थित होता है तब उससे अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु न रहने के कारण उसे पुरुषोत्तम कहा जाता है। इसी अवस्था मे भगवान् पुरुषोत्तम की मायाशक्ति उसके साथ एक होकर उसमें ही लीन रहती है। अतः माया का कोई कार्य न रहने के कारण उसी अवस्था में सृष्टि-स्थिति-प्रलय रूप कार्य की भी संभावना नहीं रहती है। पुरुषोत्तम जब इस माया-शक्ति को (समष्टि माया को) उपाधिरूप से ग्रहण करता है तब माया उसको अधिष्ठान कर उसकी सन्निधिमात्र से अपनी आवरण तथा विक्षेप शक्ति द्वारा सृष्टि आदि कार्यों का

आरम्भ करती है। इसप्रकार माया-उपाधि-विशिष्ट पुरुषोत्तम भगवान् ही तब ईश्वर—नाम से अभिहित होता है। [मायारूप उपाधि को स्वीकार करने पर भी वह जीव के समान माया के वशीभूत न होकर माया का ईश (नियन्ता) होता है, इसलिये भी उसे ईश्वर कहा जाता है।] माया की पारमार्थिक कोई सत्ता नहीं है क्योंकि कल्पना को ही माया कहा जाता है। 'विकल्पो न हि वस्तु' (अर्थात् विकल्प या कल्पना कोई वस्तु नहीं है) इसप्रकार श्रुति के वाक्यानुसार माया की भी कोई वस्तु सत्ता नहीं है। अतः माया के सभी कार्य चैतन्यस्वरूप भगवान् में आरोपित होने पर वह ईश्वर या भगवान् ही सृष्टिकर्ता, स्थितिकर्ता (भरण-पोषण करने वाला) तथा प्रलयकर्ता है, ऐसा कहा जाता है। अतः वह ईश्वर ही भूलोक, अन्तरिक्षलोक एवं स्वर्गलोक, इन तीनों लोकों को (अर्थात् उपलक्षण से सर्वलोकों को) सर्वावस्था में प्रविष्ट होकर (व्याप्त कर) उनका भरण पोषण करता है, यह जो पूर्व श्लोक में कहा गया है यह ठीक ही है। वस्तुतः ईश्वर (समष्टि मायायुक्त चैतन्य) भी निर्विशेष, निरुपाधिक, शुद्ध चैतन्य स्वरूप पुरुषोत्तम की सत्ता तथा प्रकाश द्वारा सत्तावान् तथा प्रकाशित होने के कारण पुरुषोत्तम भगवान् से भिन्न नहीं है क्योंकि ईश्वरत्व भी कल्पित ही है।

(२) **अक्षरपुरुष अर्थात् जीवतत्त्व**—ईश्वर की उपाधि जो समष्टि माया है उसमें सर्वजीवों का समष्टि कर्म, संस्कार, वासनाएँ तथा भावी जन्मादि का एवं भोगों का समस्त बीज आहित (स्थापित) रहता है। सृष्टि के समय उस समष्टि मायाशक्ति से अर्थात् ईश्वर की कल्पना से व्यष्टि जीव (भोक्ता जीव अर्थात् अक्षर पुरुष) का अपने-अपने कर्मानुसार आविर्भाव होता है। इसको अक्षर (अविनाशी या नित्य) इसलिये कहा जाता है कि जब तक इस भोक्ता जीव का अज्ञान रहता है तबतक इस संसारचक्र में भ्रमण करते हुए एक देह का त्यागकर दूसरी देह का ग्रहण करते हुए भी जीवचैतन्य प्रवाहरूप में एक ही प्रकार अर्थात् अक्षर (विनाशरहित) रहता है क्योंकि तत्त्वज्ञान उत्पन्न होने पर ही जीवत्व का नाश होता है—उसके पहले नहीं। अज्ञानावस्था में वह कूट में (माया में) स्थित अर्थात् माया के वशीभूत रहने के कारण उसे कूटस्थ 'अक्षर पुरुष' कहा जाता है। अज्ञान से देह-इन्द्रियादि में आत्मबुद्धि कर माया या प्रकृति के वशीभूत रहने के कारण यह अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान होता है

यद्यपि स्वरूपतः वह पुरुषोत्तम ही है। इसलिये भोक्ता जीव को पुरुषोत्तम भगवान् का अंश बताया गया (गीता १५।७)। अंश चैतन्य से पूर्णचैतन्य उत्तम (श्रेष्ठतम) होता है। इसलिये भगवान् ने कहा 'अक्षरादपि चोत्तमः' (अक्षर पुरुष से अर्थात् भोक्ता जीव से मैं उत्तम (उत्कृष्टतम) हूँ।

(३) **क्षर पुरुष**—व्यष्टिमाया से अभिव्यक्त अविद्याग्रस्त जीव (अक्षर पुरुष) के काम तथा कर्मसंस्कार के अनुसार जिस प्रकार कल्पना का उदय होता रहता है उसी प्रकार वह जीव अपने अद्वय शुद्ध चैतन्य आत्मा में भ्रान्ति से जगत्चित्रों को (दृश्यकार्य वर्गों को अर्थात् क्षर को) देखता रहता है एवं अपनी कल्पना से उत्पन्न हुए दृश्यवर्गों को (क्षर को) स्वयं भोग करता रहता है। इसलिये प्रत्येक भोक्ता जीव का अर्थात् कूटस्थ **अक्षर पुरुष का जगत् भी पृथक्-पृथक् है**- वह कूटस्थ अक्षर पुरुष (व्यष्टि माया विशिष्ट जीव चैतन्य) कल्पना से उत्पन्न हुए सभी भूतों के काम तथा कर्मादि संस्कारों का आश्रय है, जैसे स्वप्न में जो भूतवर्ग (दृश्य पदार्थ) दिखाई पड़ता है, उसकी कामना तथा कामनापूर्ति के लिये जो-जो कर्म अनुष्ठित होते हैं तथा उन कर्मों से जो संस्कार उत्पन्न होते हैं उन सबका स्वप्नद्रष्टा ही आश्रय है। अर्थात् स्वप्नद्रष्टा की कल्पना के अनुसार ही जिस प्रकार स्वप्नदृश्य के अन्तर्गत सभी के कर्म सम्पन्न होते हैं उसी प्रकार कूटस्थ अक्षर पुरुष की (भोक्ता जीव की) कल्पना के अनुसार ही दृश्यमान भूतवर्ग के कर्म होते रहते हैं इसलिये भाष्यकार श्रीशंकराचार्य ने कहा—'क्षराख्यस्य पुरुषस्य उत्पत्तिबीजम् अनेकसंसारिजन्तुकामकर्मादिसंस्काराश्रयः अक्षरः पुरुष उच्यते' अर्थात् भगवान् की जो मायाशक्ति क्षर पुरुष की उत्पत्ति का बीज है तथा अनेक संसारी जीवों की कामना और कर्म आदि के संस्कारों का आश्रय है, वह अक्षर पुरुष कहलाता है। माया (कल्पनाशक्ति) उपादान कारण है और माया में स्थित (कूटस्थ) अक्षर पुरुष (जीवचैतन्य) निमित्त कारण है तथा क्षर (समस्त भूतवर्ग) उस मायाविशिष्ट जीवचैतन्य का कार्य है क्योंकि मायाविशिष्ट भोक्ता जीव की कल्पना से ही समस्त दृश्यपदार्थ की उत्पत्ति होती है, कल्पना नहीं रहने पर अर्थात् चित्तवृत्ति का निरोध होने पर किसी का जगच्चित्र दिखाई नहीं देता है। अपने स्वरूप का ज्ञान न होने तक यह कूटस्थ पुरुष प्रवाहरूप से अक्षर (अविनाशी और

नित्य) है। इसलिये भाष्यकार ने कहा—'अनेकमायादिप्रकारेण स्थितः कूटस्थः संसार-बीजानन्त्याद् न क्षरति इति अक्षर उच्यते' अर्थात् माया आदि अनेक प्रकार से जो स्थित है, वह कूटस्थ है। संसार का बीज, अन्तरहित होने के कारण वह कूटस्थ नष्ट नहीं होता, अतः अक्षर कहा जाता है।

(४) **पुरुषोत्तम तत्त्व**—कहने का तात्पर्य यह है कि शुद्ध चैतन्य स्वरूप पुरुषोत्तम भगवान् ने एक होकर भी अपनी मायाशक्ति द्वारा (कल्पना शक्ति द्वारा) अपने को एक ही साथ अनन्त **भोक्ता**-(कूटस्थ अक्षर), भोग्य (क्षर भूतवर्ग या दृश्य समूह) तथा प्रेरिता (ईश्वर या अन्तर्यामी) रूप से प्रकाशित किया। अतः चैतन्यसत्ता सर्वत्र पूर्ण रूप से व्याप्त रहने के कारण क्षर तथा अक्षर को भी पुरुष कहा गया है। श्रुति भी इसलिये कहती है–'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च मत्वा, सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्' अर्थात् भोक्ता जीव, भोग्य समस्त जागतिक पदार्थ तथा अन्तर्यामी ईश्वर–ज्ञानियों के द्वारा प्रोक्त ये तीनों वस्तुएँ ही ब्रह्मस्वरूप हैं। अतः परब्रह्म पुरुषोत्तम जब प्रतिदेह में कर्ता, भोक्ता रूप से अभिमान करता है तब उसे कूटस्थ अक्षर पुरुष या भोक्ता जीव या क्षेत्रज्ञ कहा जाता है (गीता १३।२२) अतः पुरुषोत्तम भगवान् की जो मायाशक्ति जीवभूत होकर समस्त जगत को धारण करती है उसे पराप्रकृति कहते हैं (गीता ७।५) और वही परमात्मा पुरुषोत्तम जब कूटस्थ अक्षर पुरुष या जीव के हृदय में अधिष्ठित होकर व्यष्टि मायाशक्ति द्वारा (कल्पनाबल से) स्वयं कार्यरूप से (अनन्त नाम, रूप तथा क्रियारूप से) परिणत होता है, तब वह भोग्य जगत् या क्षर पुरुष नाम से अभिहित होता है एवं जिस मायाशक्ति से इसप्रकार की सृष्टि होती है उसे अपराप्रकृति कहा जाता है (गीता ७।४) [वस्तुतः अखण्ड, अद्वितीय पुरुषोत्तम न तो भोक्ता अक्षर पुरुष और न भोग्य क्षर पुरुष होता है। वह तो भोक्तृत्व तथा भोग्यत्व में अभिमान कर कल्पनाशक्ति के द्वारा अपने से निकट अपने को ही ऐसा प्रतीत करता है। पारमार्थिक दृष्टि से जीव, जगत् तथा ईश्वर की कोई सत्ता ही नहीं है, यह सभी माया का खेल है। तथापि बुद्धि में परमतत्त्व को आरूढ़ करने के लिये जीव जगत तथा ईश्वर तत्त्व की विशेषरूप से आलोचना की आवश्यकता है क्योंकि अज्ञानावस्था में इन तीनों का अस्तित्व प्रत्यक्ष तथा अनुमान से सिद्ध है। इस अस्तित्व बुद्धि का निरसन

(त्याग) करने के लिये श्रीभगवान् कह रहे हैं कि—] मैं (पुरुषोत्तम भगवान्) क्षर पदार्थ से सदा ही अतीत (विलक्षण या पृथक्) हूँ क्योंकि क्षर पदार्थ मात्र ही जड़ है और मैं तो चित्स्वरूप (चैतन्यस्वरूप) हूँ। कूटस्थ अक्षर (भोक्ता जीव) मेरा अंश होने के कारण चेतन पुरुष है किन्तु वह मेरी माया द्वारा बद्ध है और मैं नित्य, शुद्ध, मुक्त, शुद्धचैतन्यस्वरूप हूँ, अतः उस अक्षर पुरुष से मैं उत्तम (उत्कृष्टतम) हूँ तथा सर्वत्र पूर्ण रहने के कारण अथवा सबकी हृदय पुरी में सर्वदा ही मेरी स्थिति रहने के कारण मैं 'पुरुष' हूँ। इसलिये ज्ञानीलोग मुझे पुरुषोत्तम कहते हैं। मुझ पुरुषोत्तम के दो प्रकार के वैभव (महिमा) हैं (क) निर्विशेष, निर्गुण, निष्क्रिय, शुद्धचैतन्यस्वरूप अर्थात् सत्तामात्र (Being अथवा Existence oney) हूँ। केवल सत्तामात्र में सृष्टि, स्थिति, प्रलय, बन्धन, मोक्ष इत्यादि कुछ भी नहीं है। (ख) मैं ईश्वर सत्ता अर्थात् मायाशक्ति से युक्त होकर भी माया का अधीश होकर सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय के प्रेरक रूप से प्रतीत होता हूँ। ईश्वर सत्त ही अक्षर पुरुष के (भोक्ता जीव के) बीज स्वरूप है, अतः वह नाम, क्रिया, बन्धन, मोक्ष इत्यादि का कारण भी है। [इसलिये अंग्रेजी भाषा में इसे Becoming state कहते हैं] जिस प्रकार चलचित्र के श्वेत वस्त्र खण्ड (white screen) के दो तल (Side) हैं। एक ओर से तो वह चलचित्र (सिनेमा) का आधार (आश्रय या अधिष्ठान) है तथा दूसरी ओर से वह अपनी यथार्थ सत्ता में (श्वेतरूप से) स्थिर यानी अचल भाव से विद्यमान है, उसीप्रकार एक ही पुरुषोत्तम मायाकृत सृष्टि आदिका आधार (अधिष्ठान) होने के कारण एक ओर से वह ईश्वर है तथा दूसरी ओर से अपने निर्विशेष चैतन्यस्वरूप शुद्धसत्तामात्र में सदा ही स्थित रहने के कारण वह परम-ब्रह्म, परमात्मा, पुरुषोत्तम इत्यादि नामों से कहलाता है। जिसप्रकार चलचित्र के किसी दृश्य को हस्त द्वारा ग्रहण करने की चेष्टा करने पर उस दृश्यपदार्थ से विलक्षण श्वेत वस्त्रखण्ड ही हाथ में आ जाता है, उसीप्रकार भक्तयोगी ईश्वर या सगुण ब्रह्म की श्रद्धापूर्वक निरन्तर उपासना करते हुए उसी स्थान या पद पर पहुँच जाता है जो कि निर्विशेष, अव्यक्त, अखण्ड, अद्वय, शुद्धचैतन्यस्वरूप ब्रह्मसत्ता के ज्ञानी उपासक से प्राप्त होता है। गीता में भी श्रीभगवान् ने (३।४–५) श्लोकों में यही कहा है किन्तु जिसकी देहादि में आत्मबुद्धि है उसके लिये अव्यक्त ब्रह्म या शुद्धसत्तामात्र की उपासना

अधिक क्लेशकर है (गीता १२।१-५)। अतः परमब्रह्म के पुरुषोत्तम रूप अथवा ईश्वररूप वैभव में किसी एक भाव को अपने अपने अधिकार के अनुसार अवलम्बन करने पर एवं श्रद्धा-भक्ति सहित उसमें ही चित्तवृत्ति का निरोध करने पर भक्त तथा ज्ञानी दोनों योगियों को ही वह मोक्षरूप परमशान्तिपद मिल जाता है जिसकी प्राप्ति होने पर और संसार में लौटना नहीं पड़ता। ईश्वरभाव या शुद्धचैतन्यस्वरूप पुरुषोत्तम-भाव ये दोनों परस्पर से अविच्छेद्य (Inseparable) हैं। जिसप्रकार स्वर्ग से निर्मित हुए अलंकार (आभूषण यथा हार वलय, कंकण इत्यादि) स्वर्ग से भिन्न नहीं हैं क्योंकि उनके नाम, रूप काल्पनिक होने के कारण वे सब सोना ही है, इसप्रकार का ज्ञान अर्थात् आभूषण के अधिष्ठान का ज्ञान ही यथार्थसत्ता का ज्ञान (Knowledge of the Being) है। फिर वह अधिष्ठानसत्ता (स्वर्ग) ही हार, वलय, कंकण इत्यादि के रूप में परिणत हुई है अथवा उन बहुरूपों में परिणत हो सकता है. इस प्रकार के ज्ञान को स्वर्ग की शक्ति का ज्ञान (Knowledge of the Becoming) कहा जाता है। ये दोनों ज्ञान जब एक साथ प्राप्त होते हैं तभी यथार्थज्ञान की (तत्त्वज्ञान की) पूर्णता सिद्ध होती है। अतः क्षर से अतीत तथा अक्षर से उत्तम पुरुषोत्तम ईश्वररूप से समस्तशक्ति के बीजरूप में स्थित होकर अपनी महिमा प्रकट करता है। इसलिये श्रुतियों में ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वकाम, सर्वगंध, सर्वरस, सत्यसंकल्प कहा गया है क्योंकि वह (ईश्वर) समष्टि माया या मूलप्रकृति का अधीश्वर (नियन्ता) है। ईश्वर सर्वव्यापी है अतः ईश्वर तथा कूटस्थ अक्षर पुरुष (भोक्ता जीव) एक ही हृदय में अवस्थान करते हैं, दोनों में केवल अभिमान का भेद है। जब चैतन्यस्वरूप आत्मा अज्ञान का आश्रय कर (अर्थात् अपने यथार्थ स्वरूप को भूलकर) 'मैं भोक्ता हूँ और यह सब मेरा भोग्य है,' इस प्रकार अभिमान करके अपने को भोक्ता जीव या कूटस्थ (माया के वशीभूत) पुरुष मानता है, तब वह परिच्छिन्न देहादि में आत्माभिमान करने के कारण मोह प्राप्त होकर शोक करते हुए संसारचक्र में भ्रमण करता रहता है। फिर जब अपने ऊपर अपनी कृपा कर विवेक विचार द्वारा देहादि से अपने को पृथक् कर भोक्ता पुरुष (अक्षर पुरुष) तथा भोग्य पदार्थ (क्षर पुरुष) ये दोनों मेरी ही महिमा है अर्थात् मेरी माया या कल्पना शक्ति के द्वारा ही ये सब मरीचिका के

जल अथवा स्वप्न दृश्य के समान केवल प्रतीत हो रहा है एवं मैं ही इन सबका नियन्ता हूँ, इस प्रकार की भावना से जब अपने को ईश्वररूप से अभिमान करता है, तब समस्त शोकों से मुक्त हो जाता है। श्रुति से भी यही बात सिद्ध होती है यथा—'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः। (श्वेत० उ० ४।१)।

अजातवाद के अनुसार कूटस्थ जीव (अक्षर पुरुष) ही क्षर विनाशशील भूतवर्ग का (दृश्यप्रपंच का) कारण है क्योंकि उसकी कल्पना से ही स्वप्नदृश्य के समान सृष्टि आदि सबकुछ व्यापार प्रतीत होते हैं क्योंकि कल्पना से रहित होने पर एकमात्र आत्मा के अतिरिक्त किसी भी वस्तु की प्रतीति किसी को नहीं होती है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति ये तीनों स्वप्न ही हैं। इसलिये ऐतरेय उपनिषद् में कहा है–तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः। अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति। (ऐत० उ० १।३।१२) अर्थात् उस जीवभूत आत्मा के तीन वासस्थान हैं–वे तीनों ही स्वप्न हैं। उनमें से एक आवास यह दक्षिण चक्षु (दाहिना आँख) है, यह मन दूसरा आवास है तथा तीसरा आवास यह हृदयाकाश है, ये सभी स्वप्न हैं।

तात्पर्य यह है कि कूटस्थ अक्षरपुरुष और पुरुषोत्तम के ईश्वरभाव में स्वरूपतः कोई भेद नहीं हैं। जिस प्रकार उर्णनाभ (मकड़ी) अपने मुख से जाल की सृष्टि कर उसमें स्वयं ही बद्ध हो जाता है, उसी प्रकार चैतन्यस्वरूप आत्मा भी अपनी मायाशक्ति (कल्पनाशक्ति) को आश्रय कर जीवभाव को प्राप्त होकर (कूटस्थ अक्षर भाव को प्राप्त होकर) भोग के लिये क्षर (विनाशशील) भोग्य पदार्थ की सृष्टि कर कर्तृत्व, भोक्तृत्व में अभिमान करके अपनी माया में बद्ध होकर (मोहप्राप्त होकर) संसार प्रवाह में भटकता है और वही चेतन आत्मा जब भोक्ता कूटस्थ अक्षर पुरुष तथा भोग्य क्षर पुरुष इन दोनों को अपनी माया का विलास या महिमा रूप से जान लेता है, तब ईश्वरभाव को प्राप्त होकर अन्त में शुद्धचैतन्यस्वरूप पुरुषोत्तमसत्ता में निमग्न होकर तत्स्वरूपता को प्राप्त होता है। इस निर्विशेष, निर्विकार, सर्वोपाधिरहित, अखण्ड, अद्वय सत्ता में स्थिति प्राप्त करना ही मनुष्य-जीवन का परमपुरुषार्थ है, यह सूचित करने के लिये ही भगवान् ने उक्त प्रकार से क्षर, अक्षर, ईश्वर तथा पुरुषोत्तमस्वरूप का स्पष्टतया वर्णन किया।

[अजातवाद के अनुसार इस टीका में कूटस्थ अक्षर पुरुष की चेतन भोक्ता अथवा जीव या क्षेत्रज्ञरूप से व्याख्या की गई है। यह अर्थ श्रीधर स्वामी की टीका तथा आदिगुरु श्रीशंकराचार्य के भाष्य के अनुकूल है किन्तु मधुसूदन सरस्वती, सदानन्द एवं धनपति सूरी ने इस मत का खण्डन किया है एवं अन्यान्य टीकाकारों ने दूसरे प्रकार से भी व्याख्यायें की हैं। पहले ही यह सिद्ध किया गया है कि ईश्वरत्व, जीवत्व (कूटस्थ अक्षरत्व) तथा जगत्रूपत्व (क्षरत्व) सभी काल्पनिक (मायिक) हैं। अतः जो वस्तु पारमार्थिकरूप से है ही नहीं उसके सम्बन्ध में नाना प्रकार की कल्पना अथवा व्याख्या होना अशोभनीय नहीं है। इसलिये भागवत में श्रीकृष्ण-उद्धव-संवाद में श्रीभगवान् ने तत्त्वसमूह की संख्या का निर्णय करते हुए अन्त में कहा—

इति नानाप्रसंख्यानं तत्त्वानामृषिभिः कृतम्।
सर्वं न्याय्यं युक्तिमत्त्वाद् विदुषां किमशोभनम्॥

(भागवत ११।२२।२५)

(उद्धवजी ! इस प्रकार ऋषि मुनियों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से तत्त्वों की गणना की है। सबका कहना उचित ही है, क्योंकि सबकी संख्या युक्तियुक्त है। जो लोग तत्त्वज्ञानी हैं. उन्हें किसी भी मत में बुराई नहीं दीखती। उनके लिये तो सब ठीक ही है क्योंकि मरीचिका का जल सुमिष्ट है। ऐसा जो कह रहा है और जो कह रहा है कि वह तिक्त है—उन दोनों मे कोई भेद नहीं है। जिस वस्तु की सत्ता ही नहीं है, उसके सम्बन्ध में जो कुछ कहा जाय वह सभी शोभनीय है।]

[पूर्वश्लोक में भगवान् ने उनका पुरुषोत्तम नाम कैसे हुआ इसे बतलाया। अब पुरुषोत्तमरूप आत्मतत्त्व को जो जानता है उसके लिये क्या फल होता है, यह बतलाते हैं—]

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥ १९॥

अन्वय—यः असम्मूढः (सन्) माम् एवम् पुरुषोत्तमम् जानाति, हे भारत ! सः सर्ववित् माम् सर्वभावेन भजति।

अनुवाद—हे भारत ! जो मोहहीन पुरुष मुझे इस प्रकार पुरुषोत्तरूप से जानता है वह सर्वविद् (सर्वज्ञ) है (क्योंकि वह सर्वात्म भाव से सबको जानता है) एवं मुझे सर्वभाव से (सबका आत्मा समझकर) भजता है।

भाष्यदीपिका—यः—जो (संसाररूप विपर्यय से रहित निश्चलमति भाग्यवान् पुरुष) **असम्मूढः (सन्)**—सम्मोह से वर्जित होकर देह-इन्द्रियादि में आत्मबुद्धि से रहित होकर **माम्**—मुझे अर्थात् पूर्वोक्त सर्वात्मत्वादि विशेषणों से युक्त ईश्वर को **एवम्**—जिस प्रकार पूर्वश्लोक में कहा गया है उस प्रकार से **पुरुषोत्तमम् जानाति**—पुरुषोत्तमरूप से जानता है अर्थात् 'यह पुरुषोत्तम मैं हूँ' इस प्रकार साक्षात् अनुभव करता है। **हे भारत**—हे अर्जुन ! [अर्जुन ने भरत के राजा के वंश में जन्म लिया था। इसलिये अर्जुन को भारत कहा जाता है। महाकुल में जन्म-ग्रहण करने के कारण कुल परम्परागत गुणों से सम्पन्न अर्जुन अनायास ही पुरुषोत्तम के तत्त्व को समझने में समर्थ है, यह सूचित करने के लिये विशेष रूप से 'भारत' नाम से सम्बोधन किया गया है अथवा आध्यात्मिक दृष्टि से श्रीभगवान् अर्जुन को इस प्रकार सम्बोधन कर आश्वासन दे रहे हैं कि अर्जुन तो भा (ब्रह्म ज्योति) में रत है। अतः उसके लिये देहादि में आत्मबुद्धि कर सम्मोह में पतित होना सम्भव नहीं है]। **सः**—जिसने आत्मा को पुरुषोत्तम रूप से जान लिया है वह महापुरुष **सर्वविद्**—सर्वज्ञ है क्योंकि वह सर्वात्मभाव से सबको जानता है अर्थात् सर्वभूतों में मुझ सर्वात्मा को जानता है अतः **(सः) माम् सर्वभावेन भजति**—वह विद्वान् पुरुष सर्वभूतों में स्थित मुझ पुरुषोत्तम (परमात्मा) को ही सबका आत्मा समझ कर भजता है अथवा सर्वभाव से प्रेमपूर्वक अनन्य-भक्तियोग से चित्त को मुझे पूर्णरूपेण समर्पित कर मेरा भजन (सेवन) करता है अर्थात् मेरे पुरुषोत्तम स्वरूप का ही निरन्तर स्मरण करता है।

[अतः पहले जो कहा है कि—'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥' अर्थात् 'जो कोई मुझे अव्यभिचारी भक्तियोग से सेवन करता है वह इन गुणों को सम्यक् प्रकार से पार करके ब्रह्मत्व प्राप्ति के योग्य हो जाता है' वह ठीक ही है। तथा ऐसा जो कहा है कि 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्' (मैं

ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ) वह तो और भी युक्तियुक्त है। एवं 'चिदानन्दाकारं जलद-रुचि-सारं श्रुतिगिरां व्रजस्त्रीणां हारं भवजलधिपारं कृतधियाम्। विहन्तुं भूभारं विदधदवतारं मुहुरहो महो वारंवारं भजत कुशलारम्भकृतिनः' ॥ अर्थात् शुभ कार्य के आरम्भ में कुशल पुरुषो! जो चिदानन्दस्वरूप, मेघकी-सी कान्ति वाला, वेदवाक्यों का सारभूत, व्रजबालाओं के हृदय का हार, ज्ञानी पुरुषों के लिये संसार सागर का पार, और भूभार को उतारने के लिये बार-बार अवतार लेने वाला है अहो! उस तेज का बारम्बार भजन करो (मधुसूदन)]।

टिप्पणी श्रीधर—इस प्रकार के ईश्वर को (पुरुषोत्तम को) जानने वाले को जो फल मिलता है उसे बताते हैं—**यः असम्मूढः एवम् माम् जानाति इत्यादि**—इस प्रकार से असम्मूढ़ (निश्चित बुद्धिवाला) होकर जो मनुष्य मुझ पुरुषोत्तम को इस प्रकार जानता है वह (हे भारत!) सर्वभाव से (सब प्रकार से) मुझे ही भजता है वह सर्वविद् (सर्वज्ञ) हो जाता है।

(२) **शंकरानन्द**—पूर्वश्लोक में अपनी माया और उसके सम्बन्ध से रहित होने पर आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव पुरुषोत्तम होता है, ऐसा प्रतिपादन करके इसप्रकार के लक्षणवाले मुझको (परमात्मा को) जो जानता है वह मुक्त हो जाता है—ऐसा बतलाते हैं—**यः**—अनेक हजार जन्मों में श्रद्धा और भक्ति से परमेश्वर की सत्कर्मों से आराधना करने पर उनके प्रसाद का पात्रिभूत, शुद्ध चित्तवाला, दैवी सम्पत्ति से विशिष्ट जो मुमुक्षु अधिकारी शम, दम, संन्यास आदि साधन सम्पत्ति से किये गये श्रवण आदि के द्वारा उत्पन्न हुए ज्ञान से **एवम् माम् पुरुषोत्तमम् जानाति**—इस प्रकार (अर्थात् प्रतिपादित लक्षण वाले नित्यत्व, ईश्वरत्वादि धर्मविशिष्ट होने से क्षर एवं अक्षर से विलक्षण) मुझ पुरुषोत्तमको (समस्त संसार धर्म से निर्मुक्त, सदा आनन्दैकरस, अद्वितीय परमात्मा को) जानता है अर्थात् 'वही मैं हूँ' इसप्रकार अपने स्वरूप से साक्षात् जानता (प्रत्यक्ष अनुभव करता) है **सः सर्वविद्**—वह सर्वविद् (सर्वज्ञ) अर्थात् 'सब ब्रह्म ही है' इस प्रकार अपरोक्षता से सबको ब्रह्म ही जानता है। इसीलिये **असम्मूढः**—देह-इन्द्रियादि में मैं, मेरा ऐसी बुद्धि जिसकी है वह सम्मूढ़ (सम्यक् प्रकार मोह प्राप्त) है। उससे विलक्षण (विपरीत) जो हैं उसे 'असम्मूढ़ अर्थात्

देहादि में मैं मेरा भाव से निर्मुक्त कहा जाता है **सर्वभावेन**—सर्वभाव से अर्थात् मैं ही यह सब हूँ इस प्रकार का सर्वभाव है उससे (अर्थात्) सबके आत्मा के साथ अपने आत्मा का एकत्व अनुभवरूप भाव से) **माम् भजति**—मुझको भजता है (प्राप्त होता है) अर्थात् इस देह के पतन (मृत्यु) के पश्चात् पूर्ण रूप से मुझमें ही स्थित होता है अथवा **यः**—जो मुमुक्षु **असम्मूढः (सन्)**—विषयाशारूप ग्रह से ग्रस्त व्यक्ति सम्मूढ़ हैं, उससे विलक्षण अर्थात् विषयाशारहित को असम्मूढ़ कहा जाता है। इस प्रकार असम्मूढ़ अर्थात् समस्त एषणा से (वासना से मुक्त होकर **माम् एवम् जानाति**—ऐसे लक्षणवाले मुझपरमात्मा (पुरुषोत्तम) को अपने स्वरूप से अभिन्न जानता है **सः सर्वविद्**—वह सर्वविद् (सर्वज्ञ) **सर्वभावेन माम् भजति**—सब ब्रह्म ही है, इस प्रकार सर्वत्र एकमात्र ब्रह्मदृष्टि से मुझको ही भजता है अर्थात् ज्ञान और उसके फल के प्रतिबन्ध से रहित होने के लिये सर्वदा मेरा अनुसंधान करता है। निर्मानमोहत्वादि (मानमोहशून्यत्वादि) साधन सम्पत्ति से ब्रह्मज्ञान के और उसकी निष्ठा के फलरूप मुझको सर्वभाव से सदा भजता हुआ उस अव्ययपद को प्राप्त होता है (जिससे संसार में लौटना नहीं पड़ता)—यह पहले कहा गया है, ऐसा जानना चाहिए।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्वश्लोक में भगवान् ने कहा था कि अपनी माया के सम्बन्ध से रहित होने पर वह अपनी नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, पुरुषोत्तम सत्ता में स्थित होता है। अतः जो [बहुत जन्मों की सुकृति के फल से मुमुक्षु (मोक्ष की कामना वाला) होकर ईश्वरार्पण बुद्धि से अपने आश्रमोचित कर्मों का निष्काम भाव से अनुष्ठान कर चित्तशुद्धि प्राप्त होने के पश्चात् दैवी सम्पत्ति से विभूषित होकर शम, दम, संन्यास (सर्वविषय का त्याग) आदि साधन सम्पत्तियुक्त होकर गुरुमुख से परमतत्त्व का श्रवण कर मनन तथा निदिध्यासन के द्वारा] असम्मूढ़ होकर [अर्थात् देहादि में आत्मबुद्धिरूप मोह से रहित होकर] इस प्रकार [अर्थात् पूर्ववर्ती श्लोक में कहे हुए क्षर (समस्तभूतवर्ग) से विलक्षण एवं अक्षर (चेतन जीव) से उत्कृष्ट तथा अव्ययत्व (नित्यत्व) एवं ईश्वरत्वादि धर्मविशिष्ट] मुझ पुरुषोत्तम को [अर्थात् सर्व संसार धर्म से निर्मुक्त (सर्वोपाधिरहित—मायातीत अतः क्षर, अक्षर तथा ईश्वर से

भी परे) नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सदानन्दैकरस, अखण्ड, अद्वय, ज्ञानस्वरूप, अनन्त (पूर्ण) परमात्मा को] जानता है अर्थात् वह पुरुषोत्तम मैं ही हूँ, इसप्रकार अपने स्वरूप से अभिन्नरूप से साक्षात् अनुभव करता है, वह सर्ववित् होता है [सबके यथार्थ स्वरूप को अर्थात् यह सब स्वप्नदृश्यवत् माया है, इनकी कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं है एकमात्र पुरुषोत्तमस्वरूप मैं ही सर्वत्र विद्यमान हूँ; रज्जु में दण्ड, धारा आदि के दर्शन के समान मैं हो भ्रान्तिवश (अपने स्वरूप को भूलकर) इतने काल तक अपने में यह सब मिथ्या दृश्यप्रपंच अर्थात् क्षर, अक्षर तथा उनके नियन्ता ईश्वर को देख रहा था, इसप्रकार जानता है यानी अपरोक्ष अनुभव करता है। आत्मा के विज्ञान से सब कुछ जाना जाता है यह 'आत्मनि अरे विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' इस श्रुतिवाक्य से भी सिद्ध होता है।] इसप्रकार सर्ववित् होने के पश्चात् जिधर भी जो कुछ भाव दिखाई पड़ते हैं उन सब भावों से आत्मा की ही निरन्तर स्मृति बनी रहती है। जिसप्रकार स्वर्णकार के मनमें हार, वलय आदि आभूषणों के देखने के साथ ही साथ सुवर्ण (सोना) का चिन्तन स्वतः ही आ जाता है, उसीप्रकार जिसने सर्वपदार्थों में एकमात्र आत्मस्वरूप पुरुषोत्तम भगवान् की ही सत्ता की विद्यमानता अनुभव कर ली, वह सर्वभाव से अर्थात् यह सब मैं ही हूँ, इसप्रकार के भाव से सदा (निरन्तर) सर्वत्र आत्मा का ही भजन (अनुसंधान या स्मरण) करता है एवं इसप्रकार भजन की निष्ठा से वह पुरुषोत्तम भगवान् की स्वरूपता प्राप्त होकर उसी परमपद को प्राप्त कर लेता है जिससे कि संसार में पुनरावर्तन नहीं होता है।

[इस अध्याय में भगवान् के यथार्थ तत्त्व के ज्ञान से मोक्षरूप फल प्राप्त होता है, यह कहकर अब उस तत्त्वज्ञान की स्तुति करते हुए अध्याय का उपसंहार करते हैं—]

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥ २०॥

अन्वय—हे अनघ ! हे भारत ! इति गुह्यतमम् इदम् शास्त्रम् मया उक्तम्। एतद् बुद्ध्वा (जनः) बुद्धिमान् कृतकृत्यः च स्यात्।

अनुवाद—हे अनघ ! (हे निष्पाप अर्जुन !) इसप्रकार मैंने तुम्हें यह सबसे गुह्य (गोपनीय) शास्त्र कहा (सुनाया) है। इसे जानकर मनुष्य ज्ञानवान् और कृतकृत्य हो जाता है।

भाष्यदीपिका—**इति**—यह [अथवा इसप्रकार इस अध्याय में संक्षेप से (मधुसूदन)] **गुह्यतमम्**—सबसे अधिक गोपनीय अर्थात् अत्यन्त गूढ़रहस्यपूर्ण यह है। वह क्या है ? **इदम् शास्त्रम्**—यह शास्त्र (सर्ववेद का रहस्यपूर्ण शास्त्र)। यद्यपि सारी गीता को ही शास्त्र कहा जाता है परन्तु यहाँ स्तुति के लिये प्रकरण से यह पंचदश (१५ वाँ) अध्याय ही शास्त्र नाम से कहा गया है क्योंकि इस अध्याय में केवल समस्त गीताशास्त्र का अर्थ ही संक्षेप में नहीं कहा गया है, किन्तु इसमें समस्त वेदों का अर्थ भी समाप्त हो गया है। इसलिये इस अध्याय में पहले यह कहा भी गया है कि 'यस्तं वेद स वेदविद्', (गीता १५।१) 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (गीता १५।१५) ('जो उसे जानता है, वही वेद को जाननेवाला है', 'समस्त वेदों से मैं ही जानने योग्य हूँ'।) **मया उक्तम्**—ऐसा यह परमगोपनीय शास्त्र मुझसे कथित हुआ है अर्थात् मैंने कहा है। **एतद् बुद्ध्वा**—यह अर्थात् यह शास्त्र [गीता का १५वाँ अध्याय एवं इसका अर्थ (तात्पर्य)] जिसप्रकार से प्रदर्शित हुआ है (अर्थात् ऊपर दिखलाया गया है) वह जानकर ही **बुद्धिमान् कृतकृत्यः च स्यात्**—मनुष्य बुद्धिमान एवं कृतकृत्य होता है—अन्यप्रकार से नहीं। [इसे जानकर जो कोई तुम्हारे सिवा (दूसरा पुरुष) होगा वह भी बुद्धिमान् (आत्मज्ञानवान्) हो जायगा और जिसने सारे कृत्य (करने के योग्य सब कुछ) करलिया, अतः जिसका कोई अन्य कृत्य (कर्तव्य) करने को नहीं रहा है, ऐसा कृतकृत्य हो जायगा (मधुसूदन)]। कहने का अभिप्राय यह है कि जिसने कृत्य (कर्तव्य अर्थात् करने के योग्य सबकुछ) करलिया वह कृतकृत्य है। अतः श्रेष्ठ कुल में जन्म लेनेवाले ब्राह्मण द्वारा जो कुछ कर्तव्य (करने योग्य) है, वह सब भगवान् का तत्त्व जान लेने पर कृत (किया हुआ) हो जाता है, अन्य प्रकार के किसी के भी कर्तव्य की समाप्ति नहीं होती। इसलिये गीता में स्वयं भगवान् ने कहा भी है कि 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' हे पार्थ ! समस्त कर्मसमुदाय ब्रह्म ज्ञान में सर्वथा समाप्त हो जाता है। तथा मनु का भी बचन है—

एतद्धि जन्मसामग्र्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः।
प्राप्यैतत्कृतकृत्यो हि द्विजो भवति नान्यथा॥

(मनुस्मृति १२।९३)

अर्थात् 'विशेषरूप से ब्राह्मण के जन्म की यही पूर्णता है, क्योंकि इसी को प्राप्त करके द्विज कृतकृत्य होता है, अन्यप्रकार से नहीं।' **हे अनघ !**—हे निष्पाप ! शास्त्र-विहित धर्म का अनुष्ठान कर पाप से रहित होकर चित्तशुद्धि की प्राप्ति न होने पर कोई भी भगवत्तत्त्व को जान नहीं सकता। इसलिये 'निष्पाप' शब्द से भगवान् ने यह सूचित किया कि इस परमगोपनीय शास्त्र को सुनकर बुद्धिमान् (ब्रह्मज्ञानी) तथा कृतकृत्य होने का अधिकारी होता है। **हे भारत !**—हे अर्जुन ! तुम तो उत्तम भरतकुल में उत्पन्न हुए हो एवं स्वयं भी दोषरहित हो, इसीलिये अपने कुल और अपने ही गुणों के कारण इस परमतत्त्व को जानकर तुम कृतकृत्य हो जाओगे—इसमें तो कहना ही क्या है (मधुसूदन)।

मधुसूदन सरस्वती ने इस अध्याय की टीका का उपसंहार इसप्रकार से किया है—

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥ १॥

सदा सदानन्दपदे निमग्नं मनो मनोभावमपाकरोति।
गतागतायासमपास्य सद्यः परापरातीतमुपैति तत्त्वम्॥ २॥

शैवाः सौराश्च गाणेशा वैष्णवाः शक्तिपूजकाः।
भवन्ति यन्मयाः सर्वे सोऽहमस्मि परः शिवः॥ ३॥

प्रमाणतोऽपि निर्णीतं कृष्णमाहात्म्यमद्भुतम्।
न शक्नुवन्ति ये सोढुं ते मूढा निरयं गताः॥ ४॥

अर्थात् वंशी से विभूषित हाथोंवाले, नवीन कमल की-सी कान्तिवाले, पीताम्बरधारी, लालबिम्बफल के समान अधर अर्थात् ओठोंवाले पूर्णचन्द्र के समान सुन्दर मुखवाले तथा कमल के समान नेत्रों वाले श्रीकृष्ण से बढ़कर मैं कोई और तत्त्व नहीं जानता।

निरन्तर नित्यानन्दपद में निमग्न हुआ मन मनोभावको दूर कर देता है, तथा आवागमन के श्रम को त्याग कर तुरन्त ही कार्य-कारण से अतीत तत्त्व को प्राप्त हो जाता है।

शैव, सूर्योपासक, गणेशपूजक, वैष्णव एवं शक्ति की उपासना करनेवाले ये सब जिस तत्त्व में निमग्न रहते हैं, वह परमशिव मैं ही हूँ।

जो मूढ़ पुरुष प्रमाण से भी निर्णय किये हुए श्रीकृष्ण के अद्भुत माहात्म्य को सहन नहीं कर सकते, वे नरक में जाते हैं।

टिप्पणी (१)-**श्रीधर**—श्रीभगवान् अध्याय के अर्थ का उपसंहार करते हैं। **हे अनघ**-हे व्यसनरहित अर्जुन! **इति** इस संक्षिप्त प्रकार से **गुह्यतमम् इदम् शास्त्रम्**—यह गुह्यतम (अत्यन्त रहस्यपूर्ण) सम्पूर्ण शास्त्र ही मैंने कह दिया, केवल बीस श्लोको वाला अध्याय मात्र ही नहीं अतः **एतद्**—इस शास्त्र को (जो मैंने कहा उसको) **बुद्ध्वा**—समझकर **बुद्धिमान्**—[जो कोई भी (मनुष्य)] सम्यग्ज्ञानी तथा **कृतकृत्यः च स्यात्**-कृतकृत्य हो जाता है फिर **हे भारत**-हे भरतवंशी अर्जुन! तुम कृतकृत्य हो गये हो इसमें तो कहना ही क्या है? यह तात्पर्य है।

संसारशाखिनं छित्त्वा स्पष्टं पञ्चदशे प्रभुः।
पुरुषोत्तमयोगाख्ये परं पदमुपादिशत्॥

अर्थात् इस पुरुषोत्तमयोग नामक पंद्रहवें अध्याय में भगवान् ने शाखायुक्त संसारवृक्ष का छेदन करके स्पष्टरूप से परमपद का उपदेश किया है।

(२) **शंकरानन्द**—'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं' (गीता २।११) (जो शोक करने के योग्य नहीं उसके लिये तुम शोक करते हो), इससे आरम्भ करके उपदिष्ट गीता शास्त्र का इस पन्द्रहवें अध्याय को उपलक्षण करके यह शास्त्र अति रहस्यपूर्ण है तथा इसके अर्थ को जानकर पुरुष कृतार्थ हो जाता है, ऐसा प्रतिपादित करते हुए अध्याय का उपसंहार करते हैं **इति**—इसप्रकार से **मया उक्तम् इदम् शास्त्रम्**-मेरे द्वारा कहा गया यह शास्त्र। 'निर्विशेषं परमतत्वम् शास्ति बोधयतीति शास्त्रम्' (निर्विशेष परमतत्त्व का जो शासन करता है अर्थात् बोधन करता है, वह शास्त्र है),

ऐसा पंचदश अध्यायरूप शास्त्र **गुह्यतमम्**—ब्रह्म स्वरूप का प्रतिपादन करने वाला होने के कारण अत्यन्त गोपनीय है [इसलिये जिस किसी अनधिकारी दुष्ट, आसुरी सम्पत्तिवाले के लिये इसका उपदेश नहीं करना चाहिए और न सुनाना चाहिए—यही 'गुह्यतमम्' शब्द का तात्पर्य है ।] **एतद् बुद्ध्वा**—जो कोई ब्राह्मण आदि मनुष्य शुभाचार में निरत, सुशील, समस्त एषणा (वासना) से विमुख होकर एकमात्र मोक्ष की ही कामना वाला हो वह इस पन्द्रहवें अध्यायरूप शास्त्र को तथा उसमें प्रतिपादित अर्थ को सद्गुरु के अनुग्रह से सम्यक्रूप से जानकर **बुद्धिमान्**—तत्त्वज्ञानवान् अर्थात् 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार ज्ञान ही यहाँ 'बुद्धि' शब्द का अर्थ है, इसप्रकार वह बुद्धिमान् अर्थात् ब्रह्मज्ञान से सम्पन्न एवं उसके फल से युक्त होता है **कृतकृत्यः च**—भी होता है । कृत्य (कर्तव्य) अर्थात् शुद्ध चित्तवाले जो अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध तक, औपासन से लेकर ईशानबलि तक और अन्य जो श्रौत, स्मार्त कर्म हैं वे सब इसके (ब्रह्मविद् के) द्वारा कृत (किये गये) हैं अर्थात् वह ब्रह्मविद् ने सब कर्मों का अनुष्ठान किया है, ऐसा माना जाता है [सर्वात्मा ब्रह्म विज्ञात विशेषरूप से ज्ञात) हो जाने पर उस विद्वान् से सर्ववेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास तथा आगम द्वारा प्रसिद्ध सभी कर्म किये गये हैं, ऐसा माना जाता है] एवं इससे (इस ब्रह्म विज्ञान से) ही सब सुखों का अनुभव हो जाता है क्योंकि ब्रह्मानन्द में सब आनन्द का अन्तर्भाव है, इसलिये श्रुति कहती है—'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' ('इस आनन्द की ही मात्रा को अन्य सब प्राणी भोगते हैं') इसलिये ब्रह्मविद् ही कृतार्थ है, ऐसा सिद्ध हुआ ।

(३) **नारायणी टीका**—इस पंचदश अध्याय में उक्त पुरुषोत्तम तत्त्व को जान लेने पर संसार से मुक्ति प्राप्त होती है, यह कहा गया है । अतः वह ज्ञान ही परमज्ञान है एवं उसके पश्चात् मनुष्य का और कोई कर्तव्य नहीं रहता है, ऐसा प्रतिपादन करते हुए इस अध्याय का उपसंहार करते हैं—

श्रीभगवान् कहते हैं कि यद्यपि समस्त गीता नामक ग्रन्थ ही शास्त्र है [क्योंकि 'शासनात्त्रायते इति शास्त्रम्' अर्थात् जो जीवन की गति तथा भावना का अनुशासन करके संसारसमुद्र से त्राण करता है उसे शास्त्र कहा जाता है । इसी व्युत्पत्ति के अनुसार

समन्त गीता ग्रन्थ ही शास्त्र है] तथापि समस्त गीता शास्त्र में जो कुछ कहा गया है, उसका सार अंश इस अध्याय में संक्षेप से वर्णित है। इसलिये यह पंचदश अध्याय शास्त्र ही है। केवल गीताशास्त्र का ही नहीं परन्तु समस्त वेदों का अर्थ (तात्पर्य) इसमें परिसमाप्त है, इस कारण से भी इस अध्याय को विशेषरूप से शास्त्र कहना युक्तियुक्त ही है। यह गुह्यतम है अर्थात् अतिगोपनीय एवं अत्यन्त रहस्यपूर्ण है। गुह्यतम शब्द से भगवान् ने यही सूचित किया है कि जो शास्त्रविहित धर्म का पालन करके चित्तशुद्धि को नहीं प्राप्त हुआ है एवं जो शास्त्र, गुरु तथा भगवान् की कृपा से दैवी सम्पत्ति से सम्पन्न होकर श्रवण, मनन, निदिध्यासन करने का अधिकारी नहीं हुआ है वह इस शास्त्र को अर्थात् पन्द्रहवें अध्याय में वर्णित विषय को सुनने के लिये अधिकारी नहीं है, अतः उससे इस शास्त्र को सर्वप्रकार से गुप्त रखना उचित है। इस पंद्रहवें अध्याय में जो अत्यन्त रहस्यपूर्ण तत्त्व अर्थात् संसारवृक्ष का स्वरूप, मनुष्य-जीवन की लक्ष्यवस्तु जो परमपद है एवं जिसकी प्राप्ति से संसार में पुनरावर्तन नहीं होता है, उसके स्वरूप का वर्णन तथा जगत्तत्त्व, जीवतत्त्व, ईश्वरतत्त्व एवं पुरुषोत्तम तत्त्व स्पष्टरूप से प्रतिपादित किया गया है। जो मुमुक्षु, सद्गुरु के अनुग्रह से सम्यक् प्रकार से इसे जान लेता है वह तत्त्वज्ञानी अर्थात् 'ब्रह्मस्वरूप पुरुषोत्तम मैं ही हूँ' इसप्रकार ज्ञानवान होता है एवं उस सम्यग्दर्शन के पश्चात् वह कृतकृत्य हो जाता है अर्थात् उसके कोई कार्य (कर्तव्य कर्म) नहीं रहते हैं अर्थात् याग-यज्ञ, दान, तपस्या आदि सर्वकर्मों के अनुष्ठान से जो फल मिलता है वह सभी उसको एकही साथ प्राप्त हो जाता है। इसलिये गीता में कहा है कि सर्वकर्म मोक्ष साधन रूप तत्त्वज्ञान में परिसमाप्त हो जाते हैं (गीता ४।३३) एवं जो उस ज्ञानस्वरूप आत्मा में ही तृप्त है अर्थात् अपने आनन्दस्वरूप के अनुभव में मग्न है, अतः जो आत्मा में ही सन्तुष्ट है अर्थात् भोगों की अपेक्षा से रहित है, उसका कोई कर्त्तव्य नहीं रहता है (गीता ३।१७) समस्त कर्म आनन्द के लिये ही किये जाते हैं किन्तु ब्रह्मानन्द में सर्वानन्द का अन्तर्भाव है इसलिये ब्रह्मविद् पुरुष कृतकृत्य (सर्वप्रकार से कृतार्थ) हो जाता है अर्थात् पूर्णानन्द का अधिकारी होने के कारण उसको किसी दूसरे कर्म की अपेक्षा नहीं रहती है। श्रीभगवान् ने अर्जुन को अनघ (निष्पाप) तथा भारत इन दोनों शब्दों से सम्बोधित

किया है। जो पूर्वजन्मों से संचित अशुभकर्म का नाश करके अनघ–निष्पाप–समस्त पापों से रहित हुआ है तथा भा (प्रकाश अर्थात् चैतन्य-स्वरूप आत्मा के स्वरूप का ज्ञान) में रत है वह इस अध्याय में उक्त विषय का एवं विशेष करके पुरुषोत्तमतत्त्व का तात्पर्य ग्रहण करने में समर्थ है, यह सूचित करके अर्जुन 'भारत' तथा 'अनघ' होने के कारण इस तत्त्व को सुनने में पूर्ण अधिकारी है एवं इस कारण से ही भगवान् अर्जुन को इसे सुना रहे हैं, यह स्पष्टरूप से प्रतिपादित हुआ है।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां
भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो
नामा पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

परिशिष्ट

नारायणी टीका

[पंचदश अध्याय (पुरुषोत्तमयोग) का तात्पर्य]

नारायणी टीका

पंचदश अध्याय का तात्पर्य

चतुर्दश अध्याय में कहा गया है कि जब तक जीव त्रिगुणात्मिका प्रकृति के वशीभूत रहता है अर्थात् सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणों द्वारा सभी कर्म अनुष्ठित होने पर भी जो उन कर्मों के द्रष्टारूप से स्थित न होकर गुणों के द्वारा निष्पन्न हुए कर्मों में कर्तृत्व अभिमान करता है, वही संसार में बद्ध होता है। ब्रह्मस्वरूप आत्मा गुणों से (प्रकृति से) अतीत है, अतः जब तक प्रकृति से आत्मा को पृथक् करके तीनों गुणों से परे (त्रिगुणातीत) शुद्ध चैतन्यस्वरूप पुरुषोत्तम के साथ अपनी आत्मा का एकत्व अनुभव नहीं किया जाय तब तक गुणों के विकारों से उत्पन्न हुए संसार से मुक्ति लाभ करने की कोई सम्भावना नहीं है। भगवान् के प्रति अनन्य भक्ति ही गुणातीत होकर ब्रह्मस्वरूपता को प्राप्त होने का एकमात्र उपाय है, यह भगवान् ने चतुर्दश अध्याय के अन्त में—

'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते'॥

ऐसा कहकर स्पष्टरूप से प्रतिपादित किया है। किन्तु संसार तथा सांसारिक भोग्य वस्तुओं से सुखानुभूति का होना प्रत्यक्ष है एवं अनादिकाल से अभ्यास के बल से उन त्रिगुणमय भोग्य-विषयों के प्रति आसक्ति भी अत्यन्त दृढ़ है। अतः जब तक संसार का यथार्थ स्वरूप जानकर संसार मिथ्या है, यह समस्त प्रकार के संशय से रहित होकर निश्चित नहीं होता है तब तक त्रिगुणात्मक इस संसार से पार होने के लिये अर्थात् त्रिगुणातीत होकर ब्रह्मस्वरूपता प्राप्त करने के लिए किसी को तीव्र संवेग होना सम्भव नहीं है। कहने का तात्पर्य यही है कि संसार से छुटकारा पाने के लिये परमात्मा के प्रति जिस अव्यभिचारिणी भक्ति की अत्यन्त आवश्यकता है वह भक्ति तथा भक्ति से उत्पन्न होने वाले तत्त्वज्ञान का तब तक संभव नहीं होता है जब तक कि संसार के प्रति पूर्ण वैराग्य न हो संसार अज्ञानजनित है और गुणों का

विकार है, परन्तु ब्रह्मस्वरूप आत्मा ज्ञानस्वरूप है एवं तीनों गुणों से अतीत है। अतः दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। इसलिये दोनों के लिये एक साथ प्रीति (आसक्ति) होना असम्भव है। अतः जिसके बिना ज्ञान तथा भक्ति का सम्भव नहीं है वह वैराग्य तभी सिद्ध होता है जब संसार के प्रति वि (विगत) राग (आसक्ति) तथा भगवान् के लिये वि (विशेष) राग (आसक्ति या भक्ति) उत्पन्न होता है। इस प्रकार वैराग्य उत्पन्न करने के उद्देश्य से ही पंचदश अध्याय का आरम्भ हुआ है। इस अध्याय में भगवान् ने संसारवृक्ष के स्वरूप का वर्णन करके यह निर्देश दिया है कि उसका मूल या अधिष्ठान-स्वरूप जो परमब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान् है उसका ही अन्वेषण करना (ढूंढ़ लेना) मुमुक्षु का आवश्यक कर्तव्य है क्योंकि उसे प्राप्त होने पर (अर्थात् 'वही मैं हूँ' इस प्रकार साक्षात् अनुभव करने पर) संसार में पुनरागमन नहीं होता। जब तक वह परम पद प्राप्त न हो तब तक संसार चक्र में जीव किस प्रकार भ्रमण करता है उसका वर्णन कर उस पुरुषोत्तम-रूप परम पद के स्वरूप का विशेष रूप से प्रतिपादन किया है, जिससे कि उनके सम्बन्ध में कोई संशय न रहे। यह पुरुषोत्तम ही सर्वभूतों का यथार्थ आत्मा है। अतः उसको अभिन्नरूप से साक्षात् अनुभव करना ही यथार्थ ज्ञान है एवं उसमें ही मनुष्यजीवन की परम सफलता है, यह भी भगवान् ने भक्तों के प्रति कृपाकर स्पष्ट रूप से कहा है।

संसार वृक्ष का स्वरूप (१५।१–३)।

संसार वृक्ष ऊर्ध्वमूल है अर्थात् क्षर एवं अक्षर से विलक्षण पुरुषोत्तम (अव्यक्त मायाशक्तियुक्त ब्रह्म) ही संसार वृक्ष का मूल है। वह ऊर्ध्व (उत्तम) है क्योंकि वह काल से अतीत है, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है, सर्व कारण का भी कारण है तथा नित्य एवं महान् (पूर्ण) है। संसार माया है क्योंकि—

(२) वह अधःशाख है। माया से उत्पन्न हुए महत्तत्व से बुद्धि, बुद्धि से अहंकार, अहंकार से तन्मात्रा तन्मात्राओं से पंच महाभूत, पंचमहाभूतों से जीवों के स्थूल शरीरादि वृक्ष की शाखा के समान नीचे से नीचे, विस्तृत हुए हैं। इसलिये इसे 'अधःशाख' कहा गया है।

(३) यह 'अश्वत्थ' है अर्थात् क्षण-क्षण में विनाशशील है क्योंकि कल तक भी संसार की कोई वस्तु रहनेवाली नहीं है तथापि

(४) यह 'अव्यय' है । माया के द्वारा अनादिकाल से प्रवृत्त होने के कारण (जब तक अज्ञान है तब तक) प्रवाहरूप से यह संसार नित्य-सा प्रतीत होने वाला है। वेद इसके छन्द अर्थात् पत्ते हैं । जिसप्रकार वृक्ष के पत्र वृक्ष को आच्छादित कर उसकी वृद्धि का कारण होते हैं, उसीप्रकार वेदसमूह कर्मकाण्ड की व्यवस्था तथा उपदेश द्वारा संसार के मायिक स्वरूप को आच्छादित करके जीव को नानाप्रकार से कर्मों में प्रवृत्त करके संसारवृक्ष की रक्षा तथा वृद्धि का संपादन करते हैं । इसलिये वेद संसारवृक्ष के पर्ण (पत्ते) हैं । किन्तु वेद जिसप्रकार संसारवृक्ष को बर्धित कर रहा है उसीप्रकार ज्ञानकाण्ड से संसार मायारचित है एवं इस संसारवृक्ष का तत्त्वज्ञान से छेदन कर उसके प्रधानमूल (अधिष्ठानरूप) परब्रह्म पद को प्राप्त होकर इससे मुक्तिलाभ किया जा सकता है, यह भी स्पष्टतया कहा है । अतः जो इस संसारवृक्ष का मायिकत्व (मिथ्यात्व) तथा उसके प्रधानमूलरूप परमब्रह्म का सत्यत्व, नित्यत्व, एवं सर्वात्मत्व जानता है, वही वेद के यथार्थ तत्त्व को जाननेवाला है (१५।१)

(५) संसारवृक्ष की शाखाएँ अर्थात् माया से उत्पन्न हुए कार्योपाधिविशिष्ट समस्त जीव (ब्रह्मा से लेकर कीट पर्यन्त) अपने-अपने शुभ तथा अशुभ कर्मों के अनुसार ऊर्ध्व अर्थात् देवादि लोकों से अधः यानी पशु आदि योनियों तक विस्तृत हैं । ये सब शाखाएँ (जीवसमूह) सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों से प्रवृद्ध अर्थात् परिपुष्ट होती हैं । इन सब जीवों के शब्दादि विषयों के साथ संग होने पर जो काम, क्रोधादि वृत्तियाँ उत्पन्न होती है वे ही इन शाखाओं के प्रवाल (कोपलें) हैं (१५।२) ।

(६) संसारवृक्ष के प्रधान मूलके अतिरिक्त बहु अवान्तर मूलें हैं। विषय-भोग से उत्पन्न हुए राग, द्वेषादि वासनाएँ ही ये अवान्तर (छोटी छोटी) मूल हैं । वासना द्वारा ही प्रेरित होकर मनुष्य धर्माधर्म कर्म का अनुष्ठान कर उसके फल को भोगने के लिये संसार में पुनः पुनः जन्म लेकर बद्ध होता है । इसलिये ये वासनारूप मूल समूह कर्मानुबन्धी हैं अर्थात् वासना के अनुसार कर्मद्वारा जीव को बन्धन में डाल देती हैं । मनुष्य ही कर्म के अधिकारी है । अतः मनुष्यलोक में ऊँची तथा नीची योनि में जन्म का हेतु भी वे भोग-वासनाएँ ही हैं । अतः वे वासनाएँ मनुष्य की सब श्रेणियोंमें ही अनुसन्तत अर्थात् अनुप्रविष्ट (व्याप्त) हैं (१५।२) ।

संसारवृक्ष के छेदन का उपाय (श्लो० ४)—संसारवृक्ष के जिस

रूप का वर्णन ऊपर किया गया है वह रूप अविद्याच्छन्न संसारी पुरुष को उपलब्ध नहीं होता है अर्थात् उसको संसार के मूल, शाखा इत्यादि का ज्ञान नहीं है क्योंकि वह केवल इतना ही जानता है कि मैं अमुक का पुत्र हूँ, अमुक का पिता हूँ, मेरा इतना धन (सम्पत्ति) है इत्यादि इससे अतिरिक्त संसार मायारचित अश्वत्थ वृक्ष है, अनित्य है, मिथ्या है—इसरूप से नहीं जानता। जिस संसाररूप वस्तु की सत्ता ही नहीं है उसका आदि या अन्त अथवा स्थिति भी नहीं है तथापि दीर्घकाल तक इसमें सत्यत्वबुद्धि रहने के कारण तथा विषय-भोग के अभ्यास के बल से इसके वासनारूप अवान्तर मूल समूह अत्यन्त दृढ़ होने के कारण इसका छेदन करना अत्यन्त कठिन है (१५।३)।

संसारवृक्ष के छेदन का उपाय (१५।३–४)।

इस वृक्ष का जो प्रधानमूल परमात्मा है उसका ही एकमात्र आश्रय लेकर पुनः पुनः विवेक के अभ्यासरूप पत्थर के ऊपर पैनाये हुए असङ्ग शस्त्र (पुत्र, वित्त तथा लोकेषणा त्यागरूप अस्त्र) को दृढ़ भाव से जिसने पकड़ लिया वही अहं—ममता (मैं—मेरापन) तथा समस्त कर्मों का त्याग कर इस संसारवृक्ष का छेदन करने में समर्थ होता है। केवल संसारवृक्ष का छेदन अर्थात् संसार को छोड़ने से ही मनुष्य-जीवन की परम सफलता नहीं मिलती—उसको संसार के मूलभूत जो परम वैष्णवपद (पुरुषोत्तम) है उसका वेदान्तवाक्य के श्रवण, मनन, निदिध्यासन से अन्वेषण करना पड़ेगा क्योंकि उस परमपद को प्राप्त होने पर ही संसार में और लौटना नहीं पड़ता है—संसार से मुक्त होने का दूसरा कोई उपाय नहीं है। उस पुरुषोत्तम भगवान् की शरण लेना ही उसकी प्राप्ति का उपाय है, इसलिये मुमुक्षु साधक को "जिसप्रकार ऐन्द्रजालिक (जादूगर) माया हस्ती इत्यादि का विस्तार दिखाता है। उसीप्रकार जिससे इस मायामय संसार की प्रवृत्ति का अनादिकाल से विस्तार हो रहा है उस सबसे आदि पुरुष की (सबकी हृदयपुरी में पूर्णरूप से अवस्थित पुरुष की) मैं शरण ले रहा हूँ", इसप्रकार अनन्य भक्ति से उस परमपद का अन्वेषण करना पड़ेगा।

संसारवृक्ष का छेदन करने के योग्य अधिकारी तथा उनकी अन्तिम गति (१५।५–६)।

जो (१) निर्मानमोह हैं अर्थात् जो मान (अहंकार) एवं देहादि में आत्म-

बुद्धिरूप मोह से वर्जित हैं (२) जो जितसङ्गदोष हैं अर्थात् प्रिय पुत्रादि में सङ्ग (आसक्ति) के कारण रागरूप दोष तथा अप्रिय शत्रु आदि के सङ्ग (सन्निधि) से द्वेषरूप दोष से वर्जित हैं वे, (३) जो अध्यात्म नित्य हैं अर्थात् परमात्मा के स्वरूप के आलोचन में अर्थात् श्रवण, मनन निदिध्यासन में सदा ही तत्पर हैं वे, (४) जो विनिवृत्तकाम हैं अर्थात् विवेक-वैराग्य के द्वारा जिनकी विषय-भोग की कामनाएँ विशेषभाव से (पूर्णतया) नष्ट हो गई हैं, अतः जिन्होंने सर्व कर्म का त्याग कर दिया है वे, (५) सुख-दुःख संज्ञ रूप द्वन्द्वों से अर्थात् सुख-दुःख का सम्यक् ज्ञान जिनसे होता है उन द्वन्द्वों से (अर्थात् शीत-उष्ण, क्षुधा-पिपासा आदि से) विशेषरूप से मुक्त हुए हैं वे, (६) एवं इस प्रकार से जो अमूढ़ हैं अर्थात् जिनका अज्ञान नष्ट हो चुका है वे संसार वृक्ष को छेदन करके उस अव्यय (अविनाशी) परमपद को प्राप्त होते हैं जिससे कि संसार में फिर लौटना नहीं पड़ता (१५।५)

जिस परमात्मा के परमधाम को प्राप्त होने पर संसार में पुनरावर्तन नहीं होता है, वह मायारचित विश्वप्रपंच के अन्तर्गत नहीं है अर्थात् वह सर्वप्रपंच तथा सर्वगुणों से अतीत शुद्ध चैतन्यसत्ता है। इसलिये गुणों से उत्पन्न हुए सूर्य चन्द्र एवं अग्नि जो जगत की समस्त वस्तुओं को प्रकाशित करने में समर्थ हैं वे भी उस परमधाम को प्रकाशित नहीं कर सकते क्योंकि वह तुरीय धाम स्वप्रकाशस्वरूप है एवं सूर्य, चन्द्र एवं अग्नि का भी प्रकाशक है (१५।६)।

जीव का स्वरूप (जीवतत्त्व) क्या है ? एवं किस प्रकार से वह एक देह को छोड़कर दूसरे देह में गमन करता है (१५।७-११)

जीव लोके अर्थात् संसार में जो कर्ता, भोक्ता नामक जीवरूप से प्रसिद्ध है, वह परमब्रह्म पुरुषोत्तम का ही अंश है। पूर्णस्वरूप ब्रह्म का अंश होना असम्भव है क्योंकि पूर्ण या अनन्त का अंश भी अनन्त ही है परन्तु जिस प्रकार अनन्त महाकाश घटादि-रूप परिच्छेद के कारण घटाकाश होता है एवं उस घटाकाश को महाकाश का अंश माना जाता है, उसी प्रकार जीव भी देहादि परिच्छेद के कारण भगवान् का अंश माना जाता है किन्तु तत्त्वतः जिस प्रकार घटाकाश एवं महाकाश में कोई भेद नहीं है, उसी प्रकार आत्मा की दृष्टि से जीव तथा ब्रह्म में (भगवान् पुरुषोत्तम में) कोई भेद नहीं है

क्योंकि देहादि उपाधि से शून्य होने पर जीवचैतन्य ब्रह्मचैतन्य के साथ एक हो जाता है। इसलिये जीव को सनातन (पुरातन या नित्य अर्थात् सर्वदा एकरूप) कहा गया है क्योंकि वह परमात्म स्वरूप ही है।

पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय, पंचप्राण तथा अन्तःकरण (मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त) इन सोलह पदार्थों में जब अज्ञान के कारण आत्माभिमान होता है अर्थात 'ये सब मैं हूँ', इस प्रकार की बुद्धि होती है तथा शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा ही जीवरूप से प्रसिद्ध होता है। उक्त सोलह कलाओं को जीव का लिङ्गशरीर या सूक्ष्म शरीर कहते हैं इस लिङ्ग शरीर में अभिमानी पुरुष के ही जन्म-मृत्यु होते हैं। बहुजन्मों की सुकृति के फलरूप से जब विवेक-विचार द्वारा उन सोलह कलाओं में अभिमान का पूर्णतया नाश हो जाता है तब जीव ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है। अर्थात् जन्म, मरण के चक्र से छुटकारा पा लेता है।

जब तक जीवत्व-बुद्धि है तब तक अपने-अपने कर्म तथा संस्कार के अनुसार एक देह को छोड़कर दूसरी देह को ग्रहण करना पड़ता है। जिस प्रकार सुषुप्ति अवस्था में इन्द्रियाँ तथा मन, बुद्धि इत्यादि अज्ञानरूपिणी प्रकृति में लय प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार मृत्यु के पश्चात् जीव की समस्त इन्द्रियों की, प्राणों की तथा अन्तःकरण की शक्ति तथा संस्कार माया अर्थात् अज्ञानरूपिणी प्रकृति में लीन होकर स्थित रहते हैं। जीव उन प्रकृतिस्थ इन्द्रियादि को [मन जिनमें छठा है उन इन्द्रियों को (अर्थात् उपलक्षण से) उक्त सोलह कलाओं को] भोगजनक कर्म के उदय होने पर विषय-भोग के लिये पुनः नूतन शरीर को ग्रहण करने के उद्देश्य से आकर्षण करता है अर्थात् खींच लेता है (१५।७)। [परन्तु जिन विद्वान् पुरुषों को तत्त्वज्ञान या आत्मसाक्षात्कार हुआ है उनकी उक्त सोलह कलायें तथा जीवत्वभाव ब्रह्म में ही विलीन हो जाते हैं अर्थात् ब्रह्म के साथ एक हो जाते हैं, अतः उनका पुनर्जन्म नहीं होता है।] जिस प्रकार वायु सुगंध के आश्रय पुष्पादि से गंधविशिष्ट सूक्ष्मांश ग्रहण कर चलती है उसी प्रकार देह-इन्द्रियादि के संघात का ईश्वर (स्वामी) जो जीव है वह भी उन सोलह कलाओं के साथ पूर्व शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को ग्रहण करने के लिये जाता है एवं दूसरे शरीर में श्रोत्र, चक्षु, त्वचा, रसना एवं घ्राण (नासिका) इत्यादि को आश्रय

करके अर्थात् उक्त सोलह कलाओं की सहायता से रूप, रसादि विषयों का भोग करता है (१५।८-९)।

जीव इस प्रकार एक देह से दूसरे देह में अवश होकर जाता है किन्तु अज्ञान से विमूढ़ होने के कारण [अर्थात् विषय-भोग में अथवा भोग की वासना में अत्यन्त आसक्त रहने के कारण) वह अनात्म वस्तु से आत्मा को विवेक (पृथक्) करने में असमर्थ होकर] देह के त्याग के समय अथवा देह में स्थिति के समय अथवा शब्दादि विषयों के भोग के समय में अथवा गुणों से उत्पन्न हुए सुख, दुःख, मोह आदि से संयुक्त होने पर भी किसी अवस्था में जो आत्मा अपरोक्ष है एवं जिसको अधिष्ठान कर ये सब व्यापार होते हैं उस आत्मा को देह से पृथक् कर देख नहीं सकता किन्तु जो शुद्ध-चित्त है एवं वेदान्त वाक्यादि के श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन द्वारा जिस विवेकी पुरुष का ज्ञान नेत्र खुल गया है, वह सभी अवस्थाओं में आत्मा को इन सब माया के कार्यों से पृथक् करके वह 'शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा ही मेरा यथार्थ स्वरूप है' इसप्रकार साक्षात् अनुभव करता है (१५।१०)।

जो योगी शुद्धचित्त होकर ध्यानादि के द्वारा प्रयत्न करते हुए समाहित चित्त हुए हैं वे इस आत्मा को अपनी स्वच्छ (निर्मल) बुद्धि में प्रतिफलित देखते हैं अर्थात् 'वह मैं हूँ' इसप्रकार अनुभव करते हैं। परन्तु जो अकृतात्मा (अशुद्धचित्त) हैं अर्थात् विषय-भोग की कामना-वासना से आच्छन्न हैं वे मन्दमति, इन्द्रियजयशून्य अविवेकी पुरुष शास्त्रादि के प्रमाण द्वारा प्रयत्न करते हुए भी इस आत्मा को देख नहीं सकते। कहने का अभिप्राय यह है कि जो विषय के प्रति अत्यन्त आसक्ति के कारण कुकर्म से निवृत्त नहीं हुआ है, अतः जिसका चित्त एकाग्र होने में असमर्थ है, वह केवल शास्त्रादि के ज्ञान द्वारा इस आत्मा को नहीं जान सकता (१५।११)

जिस परमपद की प्राप्ति होने पर पुनरावृत्ति नहीं होती है उसकी विशेष विभूतियाँ क्या हैं ? (१५।१२-१५)—

सूर्य में, चन्द्रमा में तथा अग्नि में स्थित जो तेज समस्त जगत् को प्रकाशित कर रहा है वह तेज मेरा ही (परमब्रह्मस्वरूप पुरुषोत्तम का ही) तेज जानो। सूर्य, चन्द्र, अग्नि में जो तेज है, वह भौतिक तेज है किन्तु परमब्रह्म का जो तेज है वह

चैतन्यस्वरूप ज्योति अर्थात् ज्ञानज्योति है। ज्ञान से ही समस्त वस्तुओं का प्रकाश होता है, इसलिये श्रुति में कहा है—'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' अर्थात् आत्मा के ज्ञानरूपी प्रकाश से सब प्रकाशित होता है। तथापि सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि के तेज को मेरा ही तेज जानो, इसप्रकार विशेष रूप से कहने का अभिप्राय यह है कि मायिक जगत् में सत्त्व, रज, तम गुणों के आधिक्य एवं अल्पतावशतः ब्रह्म के प्रकाश की भी भौतिक वस्तुओं में आधिक्य या अल्पता देखी जाती है। जहाँ सत्त्वगुण का आधिक्य है वहाँ प्रकाश भी अधिक होता है। आदित्य प्रभृति में सत्त्वगुण की अधिकता होने के कारण प्रकाश की अधिकता देखी जाती है। अतः वे सब मेरी (परमात्मा की) विशेष विभूतियाँ हैं, यही कहने का अभिप्राय है (१५।१२)

धूली की मुष्टितुल्य इस पृथ्वी के अणु-परमाणु में मैं प्रविष्ट होकर स्थावर-जङ्गमात्मक समस्त प्राणियों को धारण किये हुए हूँ अर्थात् जो परमाणुसमूह परस्पर संश्लिष्ट होकर इस पृथ्वीरूप में परिणत हुए हैं तथा ग्रहों के जिस आकर्षण से पृथ्वी शून्य में नियमपूर्वक घूम रही है [न तो नीचे गिर रही है और न ही ऊपर को उत्क्षिप्त होकर भस्मीभूत हो रही है] तथा अति वेग से चलायमान पृथ्वी पर समस्त भूतवर्ग स्थिरभाव से धृत हैं वह मेरे तेज (बल) से ही हो रहा है। मैं ही रसात्मक सोम (चन्द्रमा) होकर समस्त औषधियों को परिपुष्ट करता हूँ एवं इसप्रकार से सारी सृष्टि की मैं ही रक्षा कर रहा हूँ यही मेरी अपूर्व विभूति है (१५।१३)।

मैं ही वैश्वानर (जाठर अग्नि) होकर सर्व प्राणियों की देह को आश्रय कर अर्थात् देहों के भीतर प्रविष्ट होकर प्राण तथा अपान वायु से समायुक्त (उद्दीप्त या प्रज्वलित) होकर भक्ष्य, भोज्य, लेह्य तथा चोष्य इन चार प्रकार के अन्नों का परिपाक कर रहा हूँ। (अर्थात् पचा रहा हूँ) अर्थात् जाठर अग्नि, प्राण-अपान, उनसे उद्दीपन तथा चारों प्रकार के अन्न एवं उनके परिपाक की क्रिया—ये सब मेरी ही विभूतियाँ हैं (१५।१४)

केवल बाहर ही नहीं किन्तु समस्त प्राणियों के हृदय में मैं ही आत्मारूप से स्थित हूँ। मुझसे स्मृति (आत्मस्मृति अथवा लौकिक व्यापारों की स्मृति), ज्ञान (आत्मज्ञान या विषयज्ञान) तथा उन ज्ञान तथा स्मृति का लोप भी होते हैं। मुझसे

अतिरिक्त सभी मायारचित होने के कारण मिथ्या है। अखण्ड, अद्वय, शुद्ध, चैतन्य-स्वरूप मैं ही माया के सृष्टि, स्थिति, प्रलयरूप कार्यों का एकमात्र सत्य अधिष्ठान हूँ। इसलिये सभी वेदों में कर्म, उपासना या ज्ञान द्वारा मैं ही एकमात्र वेद्य अर्थात् जानने के योग्य वस्तु हूँ। ज्ञान ही मेरा स्वरूप है अतः मैं ही सबके अन्दर ज्ञानरूपी गुरु हूँ। अतः वशिष्ठ, व्यासादि के रूप में जो जो वेदान्त के उपदेष्टा होकर वेदान्त सम्प्रदाय के प्रवर्तक (वेदान्तकृत्) हुए हैं, वे सब मैं ही हूँ अर्थात् मैं ही अनादिकाल से गुरुओं का भी गुरु हूँ। फिर मुझ नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त परमात्मा के स्वरूप को जानना ही सर्व वेदों का तात्पर्य है। अतः यदि कोई वेद के यथार्थतत्त्व को जानना चाहे तो मेरी स्वरूपता को प्राप्त होकर ही वह संभव होगा, जिस प्रकार कि नदी को समुद्र को जानने के लिये उसे समुद्र से मिलकर समुद्र ही हो जाना पड़ता है। इसलिये पूर्ण ब्रह्म मैं ही पूर्णरूप से वेद का अर्थ जानने वाला (वेदविद्) हूँ। संक्षेप से मैं ही सब कुछ होकर सर्व क्रियाओं का आश्रय हूँ। मुझसे अतिरिक्त कर्ता, कर्म, करण इत्यादि कुछ भी नहीं है, यही मेरा स्वरूप है। परमार्थतः मैं केवल शुद्धचैतन्यस्वरूप पुरुषोत्तम हूँ. वही मेरा यथार्थस्वरूप है तथापि उपाधिभेद से मैं अज्ञानी की दृष्टि में ईश्वर, अक्षर पुरुष एवं क्षर पुरुष रूप से प्रतीत होता हूँ (१५।१५)।

क्षर, अक्षर, ईश्वर एवं पुरुषोत्तम तत्त्व (१५।१६–२०)

संसार में जो कुछ देखा जाता है उसे दो राशियों में विभक्त किया जाता है—(१) भोग्य तथा (२) भोक्ता। माया के कार्यरूप स्थूल भूतवर्ग ही भोग्य है एवं यह सदा ही विकारशील एवं नाशवान् होने के कारण इसे 'क्षर' कहा जाता है अर्थात् ब्रह्मा से लेकर स्थावर तक जितने जड़ शरीर हैं उन्हें ही क्षर कहा जाता है एवं अविवेकी लोगों की शरीर में ही पुरुषत्व बुद्धि (आत्मत्व बुद्धि) रहने के कारण जड़ होने पर भी क्षर को पुरुष कहा जाता है। मायाशक्ति का दूसरा विकास (अभिव्यक्ति) है 'अक्षर' पुरुष (भोक्ता जीव) जिसकी कि **कल्पना से** क्षर नामक समस्त भूतों की सृष्टि होती है एवं इसलिये उसे क्षर की उत्पत्ति का बीज भी कहा जाता है। यह चित्स्वरूप होने पर भी शरीरादि में अहं-मम (मैं-मेरापन) भाव रखने के कारण चिद्जड़ग्रन्थिरूप से कूट (माया) में स्थित रहता है अर्थात् माया के वशीभूत होता

है। इसलिये इसे कूटस्थ कहा जाता है एवं चैतन्यस्वरूप ब्रह्म का अंश होने के कारण यह अव्यय (विनाशरहित) है, इसलिये इसको अक्षर भी कहा जाता है। फिर जबतक अविद्या रहती है तबतक प्रवाहरूप में यह नित्य है इसलिये भी यह अक्षर है। जो शुद्ध-चैतन्यस्वरूप सत्ता पूर्णरूप से सर्वत्र विद्यमान है वही यथार्थ पुरुष है। वह जड़ क्षर पदार्थों से विलक्षण (पृथक्) है एवं चेतन के अंशरूप से कल्पित जीव से पूर्ण, अनन्त, अद्वितीय, अखण्ड, चैतन्यस्वरूप परमात्मा उत्तम (सर्वोत्कृष्ट) होने के कारण इसे उत्तम पुरुष या पुरुषोत्तम कहा जाता है। यह सर्वप्रपंचरहित, क्रियारहित, गुणातीत शुद्ध सत्तामात्र है एवं यही वह परमधाम है जिसकी कि प्राप्ति होने पर संसार में पुनरागमन नहीं होता है। किन्तु वही पुरुषोत्तम जब माया को आश्रय कर माया के नियन्तारूप से कूटस्थ अक्षर पुरुषों को (भोक्ता जीवों को) अपने-अपने कर्मों तथा संस्कारों के अनुसार कर्मफल भोगने के लिये प्रवृत्त करता है तथा उन असंख्य संस्कारों से युक्त कूटस्थ पुरुषों के द्वारा अनन्त कल्पित जगत् की सृष्टि आदि का हेतु होता है तब उसी पुरुषोत्तम को **ईश्वर** कहा जाता है। वही सच्चिदानन्द पुरुषोत्तम अपनी सत्ता तथा स्फूर्ति प्रदान करके पृथ्वी, अन्तरिक्ष एवं स्वर्ग इन तीनों लोकों को (सर्वलोकों को) धारण एवं पोषण करता है। इसलिये भी इसे ईश्वर कहा जाता है। वस्तुतः ईश्वर मायोपाधिक एवं मायाधीश है। कूटस्थ अक्षर पुरुष (भोक्ता जीव) मायायुक्त तथा माया के अधीन है तथा क्षर पुरुष माया (कल्पनाशक्ति) का कार्य है। अतः माया या कल्पनाशक्ति से रहित होने पर क्षर, अक्षर तथा ईश्वर सभी पुरुषोत्तम सत्ता में पर्यवसित (समाप्त) होते हैं। अतः पुरुषोत्तम ही अन्तिम (परम) पद है जिसको कि आत्मा के रूप से साक्षात्कार करना ही मनुष्य जीवन का एकमात्र कर्तव्य है (१५।१६-१८)।

जो विवेकी पुरुष देहात्मबुद्धि से रहित होकर इस पुरुषोत्तम भगवान् को ही 'वह मैं ही हूँ' इस प्रकार साक्षात् अनुभव करता है, वह जिस किसी भाव को देखता है उसे आत्मरूप से ही देखता है। अतः वह सर्वदा तथा सर्वत्र प्रेमपूर्वक पुरुषोत्तमरूप आत्मा को ही भजता है तथा उसके फलस्वरूप वह सर्वविद् (सर्वज्ञ) होता है क्योंकि वह सबके आत्मा को अपने से अभिन्न जानता है (१५।१९)।

अध्याय का उपसंहार तथा पुरुषोत्तम के ज्ञान का फल (१५।२०)।

इस अध्याय में गीताशास्त्र के समस्त तात्पर्य को संक्षेप से कहा गया है और गीताशास्त्र में जो कुछ कहा गया है वह सर्व वेदार्थ का तात्पर्य है। इसलिये इस अध्याय को शास्त्र कहा गया। यह शास्त्र गुह्यतम (अत्यन्त गोपनीय) है क्योंकि विषयासक्त दुष्कृतिशील अनधिकारी को यह विद्या देने पर बहुत अनर्थ की संभावना है। इसमें जगत्-तत्त्व, जीवतत्त्व, ईश्वरतत्त्व तथा पुरुषोत्तमतत्त्व जैसा वर्णित हुआ है उसको मनन एवं ध्यान से जो उस तत्त्व को जानता है वही बुद्धिमान अर्थात् सम्यग्ज्ञानी हो सकता है एवं उस ज्ञान के द्वारा अज्ञानजनित संसारवृक्ष का छेदन कर उस परमपद पुरुषोत्तम स्वरूपता को प्राप्त हो सकता है जिसमें पहुँचने पर और संसार में लौटना नहीं पड़ता। अतः ज्ञानी उस परमपद को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है क्योंकि सभी कर्म आनन्द के लिये ही किये जाते हैं। उस पूर्णानन्दस्वरूप पुरुषोत्तम भगवान् के साथ एकत्व अनुभव करने के पश्चात् कुछ भी कर्तव्य कर्म अवशिष्ट नहीं रहता है। इसलिये भगवान् ने कहा है—'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते' 'तस्य कार्यं न विद्यते' (गीता ४।३३।३।१७)। इस पद को प्राप्त करने के लिये 'अनघ' अर्थात् निष्पाप या शुद्धचित्त होना चाहिए एवं 'भा' अर्थात् ब्रह्मज्योति (ब्रह्मस्वरूप चैतन्यसत्ता) में रति (तत्परता) भी होनी चाहिए—यही निर्देश करने के लिये तथा अर्जुन का इस विषय में पूर्ण अधिकार है, यह सूचित करने के लिये भगवान् ने अर्जुन को 'भारत' तथा 'अनघ' इन दो शब्दों से सम्बोधित किया।

ॐ श्रीकृष्णार्पणमस्तु।

m a fire aflame thousands of sparks come forth, even so from nperishable an infinity of beings have life and to Him return

-resplendent, formless, unoriginated and pure, that all-ding Being is both within and without, in radiance above life nind; He transcends even the transcendent unmanifested